



मजदूर बिगुल

पूँजी की रक्तपिपासु
राक्षसी के हाथों एक और
हत्याकाण्ड 5

बेरोज़गारी क्यों पैदा होती
है और इसके विरुद्ध संघर्ष
की दिशा क्या हो 12-13

मुक्तिबोध की अमर कहानी
'समझौता'
14

बढ़ते जन असन्तोष से तिलमिलाये भगवाधारी

विकास का मुखौटा धूल में, नफ़रत से सराबोर ख़ूनी चेहरा सबके सामने

जैसे-जैसे केन्द्र की राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की सरकार अपना कार्यकाल पूरा होने की ओर बढ़ रही है, वैसे-वैसे अगले लोकसभा चुनाव में किसी अनहोनी के होने की आशंका से भारतीय जनता पार्टी और उसके भगवाधारी कुटुम्ब की नींद हराम होती जा रही है। गुजरात विधानसभा चुनाव और राजस्थान उपचुनाव में पार्टी के ख़राब प्रदर्शन के मद्देनज़र उसके वैचारिक धर्मगुरुओं को भविष्य के ग्रह-नक्षत्र अच्छे नहीं दिखायी दे रहे हैं। यही वजह है कि समूचा भगवा कुटुम्ब अगले साल मतदान की फ़सल काटने के लिए ख़ून की बारिश करवाने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहा है। अर्थव्यवस्था में छाया मन्दी और बढ़ती बेरोज़गारी के काले बादल दिन-ब-दिन घने होते जा रहे हैं और भगवाधारियों

के दरबारी अर्थशास्त्री भी एक साल के भीतर उम्मीद की कोई किरण नहीं देख पा रहे हैं। यही वजह है कि सट्टा बाज़ार के कारोबारी सूचकांक में भले ही गिरावट देखने को मिल रही हो, लेकिन नफ़रत के कारोबारी सूचकांक में ज़बरदस्त उछाल देखने में आ रहा है। अल्पसंख्यकों, दलितों और महिलाओं के खिलाफ़ विषममन की अपनी गौरवशाली (कु)संस्कृति के नित-नये नमूने पेश हो रहे हैं। अन्धराष्ट्रवाद की दुकान भी ख़ूब चल रही है। पाकिस्तान और कश्मीर फिर से सुर्खियों में लौट आये हैं। नये साल की शुरुआती दिनों में ही संघ परिवार की वानर सेना के उपद्रवी उन्माद से आने वाले दिनों में उनकी आक्रामकता बढ़ने के संकेत स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं।

अच्छे दिन लाने और हर साल

सम्पादक मण्डल

2 करोड़ नौकरियाँ पैदा करने के जुमलेबाजी भरे वायदे करके प्रधानमन्त्री की कुर्सी पर पहुँचे नरेन्द्र मोदी अब अपने फिसड्डीपन का ठीकरा कांग्रेस की पिछली सरकारों पर मढ़कर लोगों का गुस्सा कांग्रेस की ओर मोड़ने की हास्यास्पद कोशिशें कर रहे हैं। प्रति वर्ष 2 करोड़ नौकरियाँ तो दूर मोदी सरकार पिछले 5 सालों से ख़ाली पड़े लगभग 5 लाख पदों को ख़त्म करने की क़वायद में लगी है। वर्तमान सरकार के पौने चार साल के कार्यकाल में लगभग 5 लाख नयी नौकरियाँ ही जोड़ी गयी हैं। नयी नौकरियाँ पैदा करना तो दूर इस सरकार के कार्यकाल में रोज़गार सृजन की दर लगातार गिरती गयी है। कुल नौकरियों की संख्या भी साल-दर-साल कम होती

जा रही है। वर्ष 2014 में मैन्युफ़ैक्चरिंग क्षेत्र में कुल 48 करोड़ नौकरियाँ थीं जो 2016 में गिरकर 46.7 करोड़ रह गयीं। बेशर्मी की हद तो तब हो गयी जब देश का प्रधानमन्त्री पकौड़े बेचने को भी रोज़गार का सृजन बताने लगा और सत्तारूढ़ पार्टी का अध्यक्ष इस शर्मनाक बयान के पक्ष में संसद में कठदलीली करता नज़र आया।

ट्विटर पर एकतरफ़ा संवाद करने में माहिर प्रधानमन्त्री को पौने चार साल में एक प्रेस कॉन्फ़्रेंस के ज़रिये जनता से मुखातिब होने तक का साहस नहीं हुआ। कुछ दरबारी पत्रकारों को इण्टरव्यू देकर अपने फिसड्डीपन पर पर्दा डालने की हास्यास्पद कोशिश करके नरेन्द्र मोदी ने अपनी छीछालेदर ही करवायी। संसद में अपनी सरकार की हर मोर्चे पर विफलता को ढँकने के लिए

कांग्रेस और नेहरू तक को दोषी ठहराने की घिसी-पिटी क़वायद से लोग अब ऊबते जा रहे हैं। जहाँ एक ओर आम जनता की ज़िन्दगी की मुश्किलें बढ़ती जा रही हैं, वहीं दूसरी ओर धनपतियों की सम्पत्ति में इज़ाफ़ा होने की रफ़्तार भी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है। आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने पर साम्राज्यवादी थिंकटैंक भी जमकर घड़ियाली आँसू बहा रहे हैं। ऑक्सफ़ैम की हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ वर्ष 2017 में देश में उत्पादित कुल सम्पदा का 73 प्रतिशत हिस्सा शीर्ष के 1 प्रतिशत धनपशुओं के हिस्से में चला गया। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक हालिया रिपोर्ट यह आशंका जता रही है कि 2019 तक देश की सक्रिय कार्यशील आबादी का 77 (पेज 11 पर जारी)

बजट और आर्थिक सर्वेक्षण : झूठ का एक और पुलिन्दा

मुकेश असीम

29 जनवरी को जब वित्त मन्त्री अरुण जेटली ने सालाना आर्थिक सर्वे संसद में पेश किया तो एक बड़ा दावा यह भी किया कि वर्तमान सरकार महिला सशक्तिकरण के लिए बहुत काम कर रही है। इसके पक्ष में मुख्य बात तो यह निकली कि आर्थिक सर्वे का मुखपृष्ठ गुलाबी रंग में छपा था! साथ ही यह भी कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान चलाने वाली सरकार ने सर्वे में पूरा एक अध्याय (!) महिलाओं की स्थिति के विश्लेषण पर दिया है, जिसमें दिखाया गया है कि कैसे स्वयं के जीवन

पर फ़ैसले ले सकने के 17 में से 12 आयामों पर महिलाओं की स्थिति में बेहतरि आयी है। पर यह अध्याय पढ़ने पर पता चलता है कि सशक्तिकरण के सर्वाधिक अहम पहलू अर्थात महिलाओं के आर्थिक स्वावलम्बन में भारी गिरावट आयी है - 2005-06 में 36.3% स्त्रियाँ किसी किस्म का ग़ैर-घरेलू रोज़गार करती थीं। 2015-16 अर्थात 10 वर्ष बाद यह संख्या घटकर 24% ही रह गयी है! साफ़ है कि रोज़गार सृजन में भारी गिरावट और बढ़ती बेरोज़गारी का सबसे ज़्यादा प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा है, जो बड़ी संख्या में सामाजिक कार्य

जगत से ही बाहर हो गयी हैं। पर यह बेरोज़गारी के आँकड़ों में नहीं झलकता क्योंकि उसमें उनकी ही गिनती की जाती है जो रोज़गार ढूँढ़ने में लगा हो। यहाँ स्त्री मुक्ति के सवाल में जाये बग़ैर संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि आर्थिक रूप से परावलम्बी स्त्री के ख़ुद के निर्णय ले पाने के सशक्तिकरण का दावा पूर्णतया मिथ्या है तथा शिक्षा, सांस्कृतिक प्रचार माध्यमों के द्वारा पारम्परिक, घरेलू स्त्री के महिमामण्डन तथा जौहर, सती के गौरव के प्रचार ही नहीं, संघी गुण्डा दलों द्वारा स्त्रियों की स्वतन्त्र सामाजिक गतिविधियों पर किये जा रहे विभिन्न

हमलों का एक मुख्य कारण भी पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न बेरोज़गारी के तीव्र संकट में पाया जा सकता है।

इसके बाद अपने बजट प्रस्तावों में तो महिला सशक्तिकरण के लिए जेटली ने और भी ज़बरदस्त प्रस्ताव दिया - महिलाओं का नगद वेतन बढ़ाने के लिए अब से मूल वेतन का 12% के बजाय सिर्फ़ 8% ही प्रोविडेण्ट फ़ण्ड में जमा होगा, शेष नगद मिलेगा, अर्थात बिना कुछ दिये ही दानवीर कर्ण बनने का नाटक! एक सशक्त मजदूर आन्दोलन के अभाव में ही आज ऐसे क्रूरता भरे मज़ाक़ मुमकिन हैं। ख़ास बात यह कि

ऐसी ही स्थितियाँ इस वर्ष के आर्थिक सर्वे और बजट प्रस्तावों में छाई हुई हैं। जिन भी तबक्रों, समुदायों, क्षेत्रों के सशक्तिकरण, प्रगति, आर्थिक सुधार के दावे-वादे किये गये हैं, उन सबकी ही थोड़ी भी जाँच-पड़ताल की जाये तो उपरोक्त वर्णित स्त्रियों जैसी ही स्थिति सामने आ जाती है। किसानों, बेरोज़गारों, गरीबों के स्वास्थ्य, शिक्षा, आदि जिनके लिए भी बड़े दावे प्रचारित किये गये उन सबके हितों के लिए घातक प्रस्ताव इन दस्तावेजों में मौजूद हैं।

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

हथियारों का जनद्रोही कारोबार और राफ़ेल विमान घोटाला

(पेज 11 से आगे)

यह आँकड़ा लगभग 20 करोड़ है।

अपने इस कुकृत्य को जायज़ ठहराने के लिए ही आम जनता के दिलों में देशभक्ति की आग जलाये रखने की कोशिश में कभी चीन तो कभी पाकिस्तान का भय दिखाया जाता है। वास्तव में देश की सुरक्षा के पीछे मुट्ठी भर मुनाफ़ाखोरों के हितों की सुरक्षा छिपी होती है।

आँकड़े बता रहे हैं आर्थिक संकट के इस भयंकर दौर में भी दुनिया भर में हथियार उद्योग में 2002 से 2016 के बीच 87% की वृद्धि हुई है। विश्व शान्ति और सुरक्षा के नाम पर स्थापित किये गये संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य दुनिया के सबसे ज्यादा सैन्य खर्च वाले देशों में शामिल हैं। पूरी दुनिया की शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करने की ज़िम्मेदारी ये किस तरह निभाते हैं, उससे हम सभी अच्छी तरह वाकिफ़ हैं। वास्तव में आज विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने विश्व पूँजीवाद की कमर तोड़कर रख दी है। ऐसे

समय में अर्थव्यवस्था को धक्का देकर कुछ और आगे खिसका देने का सबसे आजमाया तरीका है – युद्ध के ज़रिये हथियारों की बिक्री। राफ़ेल विमानों के सौदे से पहले दसाल्ट एविएशन की हालत भी बहुत ख़राब थी। आर्थिक संकट से निज़ात पाने के लिए आज विश्व की एक बड़ी आबादी को युद्ध की त्रासदी झेलने के लिए धकेल दिया गया है। साम्राज्यवादी ताकतों ने पूरे मध्य पूर्व को अपना चारागाह बना रखा है, जहाँ से वह एक तरफ़ तेल निचोड़ लेती है, तो दूसरी ओर युद्ध में झोंककर हथियार की बिक्री से अपने चक्के को कुछ देर के लिए और गतिशील कर देती है। इसके सबूत विभिन्न संस्थाओं द्वारा पेश किये गये ताज़ा आँकड़े हैं जो यह बता रहे हैं कि पिछले पाँच सालों में हथियारों का व्यापार शीतयुद्ध के बाद से सर्वाधिक है। इस माँग की सबसे बड़ी वज़ह पश्चिम एशिया और एशिया के देशों में हथियार की माँग का बढ़ना है। अकेले सऊदी अरब के हथियार की ख़रीद में पिछले 5 वर्षों में 212% की वृद्धि हो गयी,

जो कि सैन्य खर्च के मामले में भारत से ऊपर चौथे स्थान पर है। विश्व शान्ति के ठेकेदार और लोकतन्त्र के सबसे बड़े चौधरी अमेरिका द्वारा ख़तरनाक हथियार रखने का आरोप लगाकर दूसरे देशों पर हमला कर देना, जगह-जगह सीमा विवाद भड़काकर, आतंकवाद का नाम लेकर युद्ध की आग लगाने जैसे काम आम हैं। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के यही स्थायी सदस्य दुनिया में सबसे ज्यादा परमाणु हथियार रखने वाले देश भी हैं। दुनिया के कुल परमाणु हथियारों का 93% केवल दो देशों अमेरिका और रूस के पास है।

ऐसे समय में एक बात तो तय है कि यह स्थिति ऐसे ही नहीं बनी रहेगी और आने वाले समय में दो ही विकल्प बचेंगे। साम्राज्यवादी दुनिया हथियारों की अन्धी होड़ में या तो पूरी इंसानियत को विनाश के गड्ढे में धकेल जाने दिया जाये या फिर लूट और शोषण पर टिकी इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने और एक समाजवादी समाज के निर्माण के लिए लड़ाई लड़ी जाये।

बढ़ते घपले-घोटाले और पूँजीवाद

(पेज 9 से आगे)

कीजिये :

‘जनवादी गणराज्य (डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) आधिकारिक तौर पर (नागरिकों के बीच) सम्पत्ति में अन्तर का कोई खयाल नहीं करता। उसमें धन-दौलत परोक्ष रूप से, पर और भी ज्यादा सुनिश्चित ढंग से, अपना असर डालती है। एक तो सीधे-सीधे राज्य के अधिकारियों के भ्रष्टाचार के रूप में, जिसका क्लासिकी उदाहरण अमेरिका है; दूसरे, सरकार तथा स्टॉक एक्सचेंज के गठबंधन के रूप में।’

– फ्रेडरिक एंगेल्स: ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति’

‘जनवादी गणराज्य ‘तार्किक तौर पर’ पूँजीवाद से विरोध रखता है, क्योंकि ‘आधिकारिक तौर पर’ यह धनी और गरीब दोनों को बराबरी पर रखता है। यह आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक अधिचरणा के बीच का अन्तरविरोध है। साम्राज्यवाद और गणराज्य के बीच

भी यही अन्तरविरोध होता है, जो इस तथ्य के द्वारा गहरा या गम्भीर हो जाता है कि स्वतंत्र प्रतियोगिता से इजारेदारी में संक्रमण राजनीतिक स्वतंत्रताओं की सिद्धि को और भी अधिक ‘कठिन’ बना देता है। तब, फिर पूँजीवाद जनवाद के साथ सामंजस्य कैसे स्थापित करता है? पूँजी की सर्वशक्तिमानता के परोक्ष अमल के द्वारा। इसके दो आर्थिक साधन होते हैं: (1) प्रत्यक्ष रूप से घूस देना; (2) सरकार और स्टॉक एक्सचेंज का गठजोड़। (यह हमारी प्रस्थापनाओं में बताया गया है – एक बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत वित्त पूँजी ‘किसी सरकार और किसी अधिकारी को बेरोकटोक घूस दे सकती है और खरीद सकती है।’) एक बार जब माल उत्पादन की, बुर्जुआ वर्ग की और पैसे की ताकत की प्रभुत्वशील हैसियत बन जाती है – सरकार के किसी भी रूप के अन्तर्गत और जनवाद के किसी भी किस्म के अन्तर्गत – (सीधे या स्टॉक एक्सचेंज के

जरिए) घूस देना ‘सम्भव’ हो जाता है। तब यह पूछा जा सकता है कि पूँजीवाद के साम्राज्यवाद की अवस्था में पहुँचने, यानी प्राक्-एकाधिकारी पूँजी का स्थान एकाधिकारी पूँजी द्वारा ले लेने बाद, इस सम्बन्ध में कौन सी चीज़ बदल जाती है? सिर्फ यह कि स्टॉक-एक्सचेंज की ताकत बढ़ जाती है। क्योंकि वित्त पूँजी औद्योगिक पूँजी का उच्चतम, एकाधिकारी स्तर होती है, जो बैंकिंग पूँजी के साथ मिल गयी होती है। बड़े बैंक स्टॉक एक्सचेंज के साथ विलय कर गये हैं या उसे अवशोषित कर चुके हैं। (साम्राज्यवाद पर उपलब्ध साहित्य स्टॉक एक्सचेंज की घटती भूमिका के बारे में बात करता है, लेकिन केवल इस अर्थ में कि हर दैत्याकार बैंक वस्तुतः अपने आप में एक स्टॉक एक्सचेंज है।)’

– व्ला.इ. लेनिन: ‘मार्क्सवाद का विकृत रूप और साम्राज्यवादी अर्थवाद’

“बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।” - लेनिन

‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव

आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी ‘मज़दूर बिगुल’ से जुड़ सकते हैं :

www.facebook.com/MazdoorBigul

‘मज़दूर बिगुल’ का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. ‘मज़दूर बिगुल’ व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. ‘मज़दूर बिगुल’ भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और ‘बिगुल’ देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. ‘मज़दूर बिगुल’ स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टियों के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. ‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर “कम्युनिस्टों” और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क्रतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. ‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को ‘मज़दूर बिगुल’ नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको ‘मज़दूर बिगुल’ का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul

खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकखर्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9971196111, 9936650658

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन: 8853093555

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति - 5/- रुपये

वार्षिक - 70/- रुपये (डाक खर्च सहित)

आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' अभियान

रोज़गार के अधिकार को संवैधानिक संशोधन द्वारा मूलभूत अधिकारों में शामिल करवाने और देश के हर नागरिक के लिए साल में कम से कम 200 दिनों के रोज़गार के अधिकार को हासिल करने लिए देश के विभिन्न शहरों में 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' अभियान व्यापक रूप से चलाया जा रहा है। देश की राजधानी दिल्ली में भी 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' (बसनेगा) पूरे ज़ोरो-शोरो से चलाया जा रहा है। दिल्ली के विभिन्न मेहनतकश इलाकों जैसे करावल नगर, ख़जूरी, वज़ीरपुर, शाहबाद डेरी, बवाना आदि में घर-घर जाकर (डोर टू डोर कैम्पेन द्वारा) लोगों को इस अभियान से जोड़ा जा रहा है। नुक़कड़ सभाओं के माध्यम से इलाक़े के हर मेहनतकश स्त्री-पुरुष, नौजवान और बुजुर्ग से इस अभियान से जुड़ने का आह्वान किया जा रहा है। गली मीटिंगों, हस्ताक्षर अभियान, नुक़कड़ नाटकों और क्रान्तिकारी गीतों के ज़रिये आम मेहनतकश आबादी को इस अभियान से जोड़ा जा रहा है। दिल्ली के मेहनतकश आबादी वाले इलाकों से लेकर दिल्ली यूनिवर्सिटी के एसओएल (स्कूल ऑफ़ ओपन लर्निंग) के छात्रों के बीच अभियान चलाकर और दिल्ली की बसों में रोज़ाना सफ़र करती लाखों की आबादी के बीच बस अभियान चलाकर उन्हें भी इस मुहिम से जोड़ा जा रहा है। दिल्ली की आँगनवाड़ी की वर्कर्स और हेल्पर्स के बीच भी सेण्टर-सेण्टर जाकर परचा वितरण किया जा रहा है। नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, क्रान्तिकारी मज़दूर मोर्चा, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन, दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन जैसे जनसंगठन और यूनियन मिलकर इस अभियान को दिल्ली की जनता के बीच चला रहे हैं। हमारे देश की बहुसंख्या बेरोज़गारी से त्रस्त है। उच्च-शिक्षा हासिल करने के बाद भी हमारे देश के युवा बेरोज़गार घूम रहे हैं, वही 12 से 16 घण्टे काम

करने वाले मज़दूरों के सर पर भी काम से निकाल दिए जाने की तलवार हमेशा लटकती रहती है। ऐसे में आज अगर रोज़गार के अधिकार को जीने का अधिकार कहा जाये तो यह कोई बड़ी बात नहीं होगी। 'अच्छे दिन' के हरकारे मोदी जी और उनकी भाजपा सरकार के विकास के नारों की सच्चाई तो आज देश की जनता के सामने गंगी हो ही चुकी है। वहीं खुद को प्रधान-मन्त्री न कहकर "प्रधान-सेवक" कहने वाले मोदी जी रोज़गार के सवाल पर देश की 70 फ़ीसद आबादी की गुरबत का मज़ाक़ बनाते हुए उन्हें 'पकौड़े तलने' का उपदेश दे रहे हैं। जो सरकार अपनी "छपन इंच" की छाती पीटते हुए हमसे यह वादा करते हुए सत्ता में आयी थी कि वह करोड़ों रोज़गार के अवसर पैदा करेगी, उसकी सच्चाई सरकारी विभाग के आँकड़ों



से समझी जा सकती है। केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय के आँकड़ों के मुताबिक़ वर्ष 2015 में केवल 1.55 लाख और 2016 केवल 2.31 लाख नयी नौकरियाँ सृजित हुईं जो पिछले आठ सालों में सबसे कम थी। सर्वे बताते हैं कि मोदी राज में संगठित-असंगठित क्षेत्र में 2 करोड़ रोज़गार छीने गये हैं। सरकारी आँकड़ों की सीमा को समझते हुए छिपी बेरोज़गारों और अर्ध-बेरोज़गारों को जोड़ दें तो बेरोज़गारों का असल आँकड़ा 25 करोड़ से भी ज़्यादा बैठेगा। मोदी सरकार के साढ़े तीन साल बीत जाने के बाद आधिकारिक श्रम ब्यूरो के

आँकड़ों के मुताबिक़ सिर्फ़ 5 लाख नयी नौकरियाँ ही पैदा की गयी हैं। वर्ष 2012 में भारत की बेरोज़गारी दर 3.8 प्रतिशत थी जो 2015-16 में 5 प्रतिशत पहुँच चुकी है। ईपीडब्ल्यू पत्रिका के एक लेख के मुताबिक़ रोज़गार में कमी 53 लाख तक पहुँच गयी है। लुब्बेलुबाब यह कि मोदी सरकार ने इस देश की मेहनतकश जनता की आँखों में धूल झोंकने और पीठ में छुरा भोंकने के अलावा कुछ नहीं किया। आम जनता का ध्यान इन ज़रूरी और अहम मुद्दों पर से हटाया जाये इसीलिए कभी लव-जिहाद, कभी गौ-रक्षा, कभी बाबरी मस्जिद विवाद जैसे मुद्दों को मीडिया और व्हाट्सएप के ज़रिये लोगों में फैलाते रहे। रोज़गार के अवसर पैदा करने की बजाय यह सरकार हमारे बीच कभी काले-धन पर रोक लगाने का जुमला उछालते हुए नोटबन्दी

कर दिया गया। एक दलील जो सरकार और उसके समर्थक बेरोज़गारी के पक्ष में देते हैं, वो यह कि देश की आबादी ही इतनी है कि सबको रोज़गार कहाँ से दिया जाये। सबसे पहली बात तो यह है कि यह दलील बिलकुल बेबुनियाद है, हमारे देश में इतने मानव और प्राकृतिक संसाधन हैं कि सबको काम दिया जा सकता है, बशर्ते सरकार पूँजीपतियों के लिए नहीं बल्कि आम मेहनतकश जनता के लिए काम करे।

राज्यसभा में कैबिनेट राज्यमन्त्री जितेन्द्र प्रसाद ने खुद माना था कि कुल 4,20,547 पद अकेले केन्द्र में खाली पड़े हैं। देश भर में प्राइमरी-अपर-प्राइमरी अध्यापकों के करीब 10 लाख पद, पुलिस विभाग में 5,49,025 पद, खाली पड़े हैं। केन्द्र और राज्यों के स्तर पर करीब बीसियों लाख पद खाली हैं।

लाती है तो कभी जीएसटी, लेकिन इस सबका खामियाज़ा आम-मेहनतकश जनता की पीठ पर ही लादा जाता है। नोटबन्दी से पहले कहा गया था कि काला-धन इकट्ठा करके बैठे हुए सभी चोरों पर नकेल कसी जायेगी, लेकिन बैंकों के बाहर लम्बी-लम्बी लाइनों में न तो कोई अम्बानी, न ही अदानी, न बिरला, न गोयंका खड़ा दिखा। उल्टा धन्नासेठों ने अपना काला पैसा सफ़ेद कर लिया। लेकिन इस सबमें सबसे ज़्यादा नुक़सान हुआ आम जनता का, खुद आरबीआई की रिपोर्ट के मुताबिक़ मुद्राचलन में से 99% पैसा वापिस जमा

तो ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि इन रिक्त पदों पर नियुक्तियाँ क्यों नहीं की जाती? एक ओर बेरोज़गारी की भीषण आग में झुलसती जनता है, वहीं दूसरी ओर नेताओं और पूँजीपतियों की सम्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। एक संस्था 'ऑक्सफ़ेम' की ताज़ा रिपोर्ट के मुताबिक़ पिछले एक साल में देश में हुई कुल सम्पत्ति वृद्धि का 73 फ़ीसदी हिस्सा मात्र ऊपर के 1 फ़ीसदी अमीरजादों की जेब में गया। इसी बीच भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के बेटे जय शाह की कम्पनी ने 16,000 गुने का मुनाफ़ा कमाया। पिछले एक साल

में देश के बड़े पूँजीपतियों ने 200 फ़ीसदी मुनाफ़ा कमाया। केन्द्रीय बजट में राष्ट्रपति और राज्यपाल के वेतन को दोगुना कर दिया गया है और सांसदों के वेतन-भत्ते भी बढ़ा दिये गये हैं। अदानी ग्रुप को 'सेज़' (विशेष आर्थिक क्षेत्र) बनाने के लिए 500 करोड़ का फ़ायदा तो पिछले साल ही दे दिया गया था, पूँजीपतियों को विभिन्न बैंकों द्वारा दिये गये लोन, जो 8,29,338 लाख रुपये के बराबर बैठते हैं, को गैरवसूली खाते में डाल दिया गया है। यानी कि जनता की गाढ़ी कमाई को लूटकर सरकार धन्नासेठों को मालामाल कर रही है! ऐसे में अगर आज इस देश की मेहनतकश आबादी और युवा एकजुट होकर रोज़गार के अपने न्यायसम्मत अधिकार के लिए आवाज़ नहीं उठाते तो यह सरकार हमारी मेहनत, हमारे खून-पसीने को सोने-चाँदी के सिक्कों में तब्दील कर पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरती रहेगी। आम जनता का शोषण और उनके अधिकारों का हनन बदस्तूर जारी रहेगा और हमारे ही नरककालों पर से इन धन्नासेठों और पूँजीपतियों के ऐयाशी के रथ गुज़रते रहेंगे। यह कहानी केवल भाजपा सरकार के राज की नहीं है, कांग्रेस, आम आदमी पार्टी और तमाम रंगों वाले झण्डों की पार्टियाँ सिर्फ़ और सिर्फ़ चुनावी जुमलेबाज़ी करते हुए अपनी गोटियाँ लाल करने के अलावा कुछ नहीं करतीं। आज के समय में पूँजीपतियों की सबसे बेहतर मैनेजिंग कमिटी का काम भाजपा सरकार कर रही है। इन चुनावबाज़ पार्टियों से खोखले वादों के अलावा कोई और उम्मीद नहीं की जा सकती। इसीलिए अपनी बात को इस बहरी सरकार के कानों तक पहुँचाने और अपने हक़-अधिकारों को हासिल करने के लिए 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' अभियान के तहत लाखों की संख्या में युवा-नौजवान-मेहनतकश आबादी 25 मार्च 2018 (रविवार) को रामलीला मैदान से संसद तक मार्च करेंगे।

— बिगुल संवाददाता

धरना-प्रदर्शनों पर रोक व काले क़ानूनों के खिलाफ़ लुधियाना के जनवादी जनसंगठन सड़कों पर उतरे

धारा 144 की धज्जियाँ उड़ाते हुए शहर में रैली, पैदल मार्च, व रोष प्रदर्शन किया

गुज़री 30 जनवरी को लुधियाना ज़िला के मज़दूरों, किसानों, मुलाजिमों, नौजवानों, छात्रों, स्त्रियों, बुद्धिजीवियों, जनवादी कार्यकर्ताओं के 75 से अधिक जनवादी जनसंगठनों ने डिप्टी कमिश्नर कार्यालय पर काले क़ानूनों के ज़रिये जनता की अधिकारपूर्ण आवाज़ कुचलने के खिलाफ़ रोषपूर्ण विशाल प्रदर्शन किया। इससे पहले शहीद करतार सिंह सराभा पार्क से डीसी कार्यालय तक पैदल मार्च भी किया गया। संगठनों ने माँग की कि ज़िला प्रशासन द्वारा ज़िला धारा 144 लगाकर धरना-प्रदर्शनों पर अनिश्चितकालीन पाबन्दी तुरन्त रद्द की जाये। संगठनों ने पंजाब सरकार द्वारा लागू किये गये काले क़ानून 'सार्वजनिक व निजी जायदाद नुक़सान रोकथाम क़ानून' व प्रस्तावित काले क़ानून

'पकोका' भी तुरन्त रद्द करने की माँग की। वक्ताओं ने ऐलान किया कि अगर यह तानाशाह फ़रमान व काले क़ानून रद्द नहीं किये गये तो लुधियाना प्रशासन व सरकार को और तीखे जनसंघर्ष के साथ जवाब दिया जायेगा।

रोष प्रदर्शन को सम्बोधित करते हुए संगठनों के वक्ताओं ने कहा कि लुधियाना प्रशासन का स्थाई तौर पर धारा 144 लगाने का फ़रमान न सिर्फ़ ग़ैरजनवादी है, नागरिक अधिकारों को कुचलने वाला है, बल्कि ग़ैरक़ानूनी-ग़ैरसंवैधानिक भी है। लुधियाना ज़िला में ऐसे कोई ख़तरे वाले आपाताकालीन हालात नहीं हैं कि इसके इस्तेमाल की ज़रूरत पड़े। धारा 144 निश्चित समय (अधिक से अधिक दो महीने) के लिए ही लगायी जा सकती है। वक्ताओं ने कहा

कि केन्द्र व राज्य सरकारों काले क़ानूनों के ज़रिये जनता के जनवादी अधिकारों, नागरिक आज़ादियों को कुचलने की राह पर तेज़ी से आगे बढ़ रही हैं। देश के पूँजीवादी-सांप्रदायवादी हुक़मरानों द्वारा जनता के खिलाफ़ तीखा आर्थिक हमला छेड़ा हुआ है। अमीरी-ग़रीबी की खाई बहुत बढ़ चुकी है। महँगाई, बेरोज़गारी, बदहाली, गुण्डागर्दी, स्त्रियों, दलित, अल्पसंख्यकों पर जुल्म बढ़ते जा रहे हैं। इसके चलते लोगों में तीखा रोष है। जनसंघर्षों से घबराये हुक़मरान काले क़ानूनों, दमन, अत्याचार के ज़रिये जनता की अधिकारपूर्ण आवाज़ दबाने का भ्रम पाल रहे हैं। लेकिन जनता इन काले क़ानूनों, तानाशाह फ़रमानों से घबराकर पीछे नहीं हटने वाली। ये तानाशाह फ़रमान, काले

क़ानून हुक़मरानों की मज़बूती का नहीं कमज़ोरी का सूचक हैं। लोग न सिर्फ़ अपने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष जारी रखेंगे बल्कि इन दमनकारी फ़रमानों/काले क़ानूनों को भी वापिस करवाकर रहेंगे।

आज के प्रदर्शन को जमहूरी अधिकार सभा, बिगुल मज़दूर दस्ता, इंकलाबी केन्द्र पंजाब, किरती किसान यूनियन, भारतीय किसान यूनियन (उगराहॉ), इंकलाबी लोक मोर्चा, एटक, सीआईटीयू (सीटू), जमहूरी किसान सभा, टेक्सटाइल हौज़री कामगार यूनियन, पेण्डू मज़दूर यूनियन (मशाल), कारख़ाना मज़दूर यूनियन, पीप्लज़ मीडिया लिंक, तर्कशील सोसाइटी, नौजवान भारत सभा, पंजाब स्टूडेंट्स यूनियन, भारतीय किसान यूनियन

(डकोन्दा), मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्स यूनियन, पेण्डू मज़दूर यूनियन, सीटीयू पंजाब, आँगनवाड़ी मुलाजिम यूनियन, कामागाटा मारू यादगारी कमेटी, डेमोक्रेटिक लायर्ज एसोसिएशन, लाल झण्डा हीरो साइकिल मज़दूर यूनियन, मज़दूर अधिकार संघर्ष अभियान, गोरमिण्ट टीचर्स यूनियन, नरेगा मज़दूर यूनियन, लाल झण्डा पेण्डू चौकीदार यूनियन, एआईसीसीटीयू आदि संगठन शामिल थे। प्रदर्शन को प्रो. जगमोहन सिंह, राजिवन्दर, हरिजन्दर सिंह, कंवलजीत खन्ना, कर्मजीत कोटकपुरा, विजय नारायण, जसदेव ललतों, डी.पी. मौड़, तरसेम जोधा, जगदीश चन्द, रघबीर सिंह, आदि ने सम्बोधित किया।

हम अपना अधिकार माँगते, नहीं किसी से भीख माँगते।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हॉस्टल मैस कर्मचारियों का संघर्ष ज़िन्दाबाद!

जैसाकि हमने पिछले अक्टूबर-दिसम्बर 2017 (संयुक्तांक) बिगुल की रिपोर्ट थी कि कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अन्दर हॉस्टल मैस कर्मचारी अपनी माँगों को लेकर हर रोज़ रोष प्रदर्शन कर रहे हैं और यह रिपोर्ट लिखने तक भी तमाम उतार-चढ़ाव से होता हुआ हॉस्टल मैस कर्मचारियों का संघर्ष अब भी कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अन्दर चल रहा है। जैसे तो यह हॉस्टल मैस कर्मचारियों का संघर्ष कोई अभी शुरू हुआ संघर्ष नहीं है, मैस कर्मचारी विश्वविद्यालय में पिछले 35-40 साल से लगातार काम कर रहे हैं। इस दौरान सत्ता में तमाम सरकारें आयी और चली गयी लेकिन इन मज़दूरों की ज़िन्दगी में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं आया। 40-40 साल से काम करने वाले ये कर्मचारी आज भी 5-5 हजार पर काम करने के लिए मजबूर हैं। इतने सालों के दौरान काम करते-करते बहुत साथियों की मृत्यु भी हो चुकी है और बहुत साथी आज भी यहाँ इतनी कम तनख्वाह पर काम कर रहे हैं। इन मैस कर्मचारियों ने अपनी यूनियन के तहत 2007 में लेबर कोर्ट में केस डाला कि हम इतने दिनों से विश्वविद्यालय में काम कर रहे हैं तो हमें विश्वविद्यालय का कर्मचारी घोषित किया जाये और हमें यहाँ काम पर पक्का किया जाये। अन्ततः 2010 में लेबर कोर्ट ने हॉस्टल मैस कर्मचारियों के हक़ में फ़ैसला सुना दिया। इस फ़ैसले के विरोध में तानाशाह विश्वविद्यालय प्रशासन हाईकोर्ट में इस केस को लेकर गया। विश्वविद्यालय प्रशासन का कहना था कि बैकडोर एण्ट्री के कारण इन्हें विश्वविद्यालय का कर्मचारी घोषित नहीं किया जा सकता। जैसाकि हमें पता है जब भी

कोई मेहनतकश वर्ग अपने अधिकार को माँगने के लिए किसी भी प्रकार के कोर्ट में जाता है तो बहुत जल्दी उसकी वहाँ कोई सुनवाई नहीं होती और एक अच्छा-खासा वक़्त बीत जाने के बाद बड़ी मुश्किल से कोर्ट को मेहनतकश लोगों की माँगों की याद आती है। यहाँ भी अपनी परम्परा को बरकरार रखते हुए हाई कोर्ट ने यह केस दोबारा से लेबर कोर्ट को भेजने में 5 साल (2010-15) लगा दिये। लेकिन अन्त में 31 मार्च 2017 को फिर से लेबर कोर्ट ने अपना फ़ैसला हॉस्टल मैस कर्मचारियों के हक़ में दे दिया।

लेकिन अड़ियल और तानाशाह विश्वविद्यालय प्रशासन भी कब अपनी हरक़तों से बाज आने वाला था और ऐसे ही वह अपनी ज़िद पर अड़ा हुआ बोलता रहा कि यह हमारे विश्वविद्यालय के कर्मचारी नहीं हैं। ये तो विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले बच्चों के यहाँ नौकरी करते हैं और उनके नौकर हैं। तो ऐसे में हॉस्टल मैस कर्मचारियों ने विश्वविद्यालय के अड़ियल रवैये के सामने हर रोज़ अपना रोष प्रदर्शन करने की ठान ली। जब यह बात विश्वविद्यालय प्रशासन को पता चली तो वह कोर्ट में स्टे लेने के लिए चला गया ताकि मैस कर्मचारी अपना रोष प्रदर्शन ना कर सकें। लेकिन कोर्ट ने विश्वविद्यालय प्रशासन को स्टे देने से मना कर दिया। अब मैस कर्मचारियों ने लेबर कोर्ट के फ़ैसले को लागू करवाने के लिए अपना रोष प्रदर्शन शुरू कर दिया। इसी समय बीच-बीच में कर्मचारियों ने डीसी एसपी को ज़ापन देने के माध्यम से अपनी बात विश्वविद्यालय प्रशासन तक पहुँचाने की बार-बार कोशिश की। लेकिन विश्वविद्यालय प्रशासन पर

फिर भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। क्रान्ति के माध्यम से कोई बात न बनती देख हॉस्टल मैस कर्मचारी कुरुक्षेत्र के बीजेपी विधायक सुभाष सुधा के पास भी अपनी माँगों को लेकर गये और उनसे अपील की कि विश्वविद्यालय प्रशासन को बोलकर वह उनकी माँगों को मनवाये। लेकिन बेचारे कर्मचारियों को यह कहाँ पता था कि विश्वविद्यालय प्रशासन और बीजेपी विधायक सुभाष सुधा सब एक ही थाली के चट्टे-बट्टे हैं। और हुआ भी यही कि विधायक ने उनको कुछ दिन गुमराह करके रखा और विश्वविद्यालय प्रशासन के हक़ में आन्दोलन को कमजोर करवाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अब गीता जयन्ती समारोह का समय भी पास आ रहा था। तो विश्वविद्यालय प्रशासन ने कर्मचारियों की तमाम कमजोरियों का फ़ायदा उठाते हुए गीता जयन्ती समारोह ख़त्म होने तक उनसे आन्दोलन बन्द करने की अपील की और उनको चीफ़ वार्डन के माध्यम से झूठा आश्वासन दिलवाया कि जब तक लेबर कोर्ट का फ़ैसला लागू नहीं होता, तब तक उनको डीसी रेट देने पर हम विचार कर रहे हैं। और कहा कि गीता जयन्ती को ख़त्म होने दो, फिर हम साथ बैठकर इन सब माँगों पर विचार करेंगे और जब तक लेबर कोर्ट का फ़ैसला लागू नहीं होता तब तक के लिए डीसी रेट लागू करवा देंगे। विश्वविद्यालय प्रशासन की यह चाल भी कामयाब हो गयी और कर्मचारियों ने अपना आन्दोलन गीता जयन्ती ख़त्म होने तक स्थगित करने का फ़ैसला लिया। विश्वविद्यालय प्रशासन को पता था कि गीता जयन्ती समारोह के बीच में राष्ट्रपति साहब विश्वविद्यालय में आ

रहे हैं। इसलिए विश्वविद्यालय प्रशासन के लिए आन्दोलन बन्द करवाना ज़रूरी था, ताकि राष्ट्रपति साहब को यह लगे कि विश्वविद्यालय में सब ठीक-ठाक चल रहा है। एक बार फिर बेचारे भोले-भाले कर्मचारी विश्वविद्यालय प्रशासन के जाल में फँस गये। लेकिन जब गीता जयन्ती समारोह ख़त्म होने के बाद मैस कर्मचारियों ने विश्वविद्यालय प्रशासन से बात करने की कोशिश कि तो विश्वविद्यालय प्रशासन उनसे बात करने के लिए पहले तो टालमटोल करता रहा। लेकिन जब अन्त में बातचीत हुई तो विश्वविद्यालय प्रशासन ने उनकी माँगों को मानने से इनकार ही नहीं किया बल्कि उल्टा उनको यह बोलना शुरू कर दिया कि तुम मैस में खाना खाते हो, यहाँ तुम्हें दवाइयाँ मुफ्त मिलती हैं, वहीं तुमको यहीं से मिलती है। इनको तो छोड़ दीजिए लोहड़ी के अवसर पर दी जाने वाली मूँगफली के पैसे भी जोड़ते हुए उनको बोला गया कि आप यहाँ एक आदमी लगभग 17000 रुपये में पड़ता है। इन सब बातों से ही विश्वविद्यालय का तानाशाह रवैया साफ़ झलकता है कि मज़दूर विरोधी मानसिकता से वह कैसे काम कर रहा है। और सभी श्रम क्रान्तियों की धज्जियाँ उड़ाते हुए वह कैसे अपने तानाशाह रवैये पर बना हुआ है। तो ऐसे में हॉस्टल मैस कर्मचारियों की यूनियन ने अपना प्रदर्शन फिर से चालू करने का फ़ैसला किया और 16 जनवरी से अपना प्रदर्शन चालू भी कर दिया और अब तक 25 दिन लगातार प्रदर्शन को करते हो गये हैं। अब विश्वविद्यालय प्रशासन पर कोई दबाव नहीं बनता देख मैस कर्मचारियों ने अनिश्चितकालीन धरना-प्रदर्शन भी शुरू कर दिया गया है जिसके भी 11 दिन

बीत चुके हैं। साथियों तमाम नेता-मन्त्री मैस कर्मचारियों के बीच अपना चेहरा चमकाने के लिए आते हैं और मुश्किल से 10-15 मिनट अपनी शक्ति दिखा कर चले जाते हैं। जैसा कि पता चलता है उनकी माँगों को मनवाने के लिए इनमें से कोई भी विश्वविद्यालय प्रशासन पर दबाव बनाने की कोशिश नहीं करता बल्कि सिर्फ़ यह अपनी वोट बैंक की राजनीति करने के लिए मज़दूरों के बीच आते हैं। अब सवाल यह उठता है कि विश्वविद्यालय प्रशासन के तानाशाह रवैये को तोड़ने के लिए हॉस्टल मैस कर्मचारी क्या करें। ऐसे में मैस कर्मचारी अपनी माँगों को मनवाने के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन पर तभी दबाव बना सकते हैं। जब वह विश्वविद्यालय के अन्दर पढ़ने वाले छात्रों के एक अच्छे-खासे हिस्से को अपने समर्थन में लेने में कामयाब होते हैं। हालाँकि यह काम इतना आसान नहीं है। लेकिन मैस कर्मचारियों के बीच विश्वविद्यालय से जो भी छात्र संगठन समर्थन देने आ रहे हैं उनको साथ लेकर विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं के बीच जाया जा सकता है। और यह काम एक-दो दिन में नहीं बल्कि बार-बार पर्चों के माध्यम से, नुककड़ सभाओं के माध्यम से टोलियाँ बना करके करना होगा। तभी छात्रों के एक अच्छे-खासे हिस्से को अपनी तरफ़ खड़ा किया जा सकता है। और अपनी माँगों को मनवाने के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन पर दबाव बनाया जा सकता

— प्रवीन, कुरुक्षेत्र

रिहायशी मसलों के हल के लिए एलआईजी कालोनी (लुधियाना) के लोगों के संघर्ष की आंशिक जीत



एलआईजी कालोनी, जमालपुर, लुधियाना के निवासियों ने नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में साफ़-सफ़ाई, सीवरेज जाम, एक पार्क ठीक न करने व दूसरा पार्क बनाने, पक्का ट्यूबवैल ऑपरटर रखने, ट्यूबवैल का बक्सा ठीक ढंग से लगाने, स्ट्रीट लाइटें लगाने आदि मसलों पर एकजुट संघर्ष की शुरुआत की है। नौभास के कार्यकर्ताओं ने कालोनी के लोगों की समस्याओं के बारे में एक पर्चा कालोनी में वितरित किया। नगर निगम द्वारा कालोनी की समस्याओं की अनदेखी के मसले पर एक मीटिंग 21 जनवरी को की गयी। मीटिंग में विचार-चर्चा के बाद लोगों ने समस्याओं के हल के लिए ज़ोरदार

संघर्ष का ऐलान किया।

मीटिंग में ऐलान हुआ था कि 23 जनवरी को नगर निगम के कार्यालय पर प्रदर्शन किया जायेगा। बारिश के चलते प्रदर्शन तो नहीं हो पाया लेकिन जनसंघर्ष के डर से नगर निगम ने इलाक़े में साफ़-सफ़ाई कराने, पार्क ठीक करने, सीवरेज साफ़ करने, स्ट्रीट लाइटें लगाने, आदि का काम शुरू कर दिया है। बेशक यह जन एकता की जीत है लेकिन यह अभी आंशिक जीत ही है। कालोनी के एक प्रतिनिधि मण्डल ने 24 जनवरी को नगर निगम कार्यालय सौंपकर अपनी समस्याओं से लिखित रूप में परिचित भी कराया और माँग की कि जल्द से जल्द सभी समस्याएँ हल की जायें।

गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद के अप्रेण्टिस कर्मचारी आन्दोलन की राह पर गवर्नमेण्ट प्रेस की फ़ैक्टरी में 2200 रिक्त पदों पर अदालती आदेश के बावजूद भरती नहीं

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों का नंगा-नाच अब खुले रूप में दिखायी दे रहा है। देश भर में जगह-जगह छात्र-कर्मचारी-मज़दूर अपनी माँगों को लेकर सड़कों पर उतर रहे हैं। इन नीतियों की मार सबसे ज़्यादा जिन विभागों पर दिखायी दे रही है, उनमें से एक गवर्नमेण्ट प्रेस भी है।

गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद के कर्मचारियों के अनुसार 2004 में लिपिकीय संवर्ग में लगभग 315 कर्मचारी थे, आज यह संख्या 278 पहुँच गयी है। इसी तरह गवर्नमेण्ट प्रेस की फ़ैक्टरी में कर्मचारियों की संख्या इन वर्षों में 800 से घटकर 436 रह गयी। पिछले कई वर्षों से गवर्नमेण्ट प्रेस की फ़ैक्टरी में अप्रेण्टिस की ट्रेनिंग पूरी करके जॉइनिंग का इन्तज़ार कर रहे अभ्यर्थी आन्दोलनरत हैं। इनमें से कई ऐसे भी हैं जो पिछले 20 वर्षों से अप्रेण्टिस करके बैठे हुए हैं। दूसरी ओर गवर्नमेण्ट प्रेस की फ़ैक्टरी में लगभग 2200 पद रिक्त

पड़े हुए हैं। हाईकोर्ट की ओर से इन रिक्त पदों को भरे जाने और अप्रेण्टिस पूरी कर चुके मज़दूरों को प्राथमिकता देने का आदेश होने के बावजूद प्रशासन पर कोई असर नहीं पड़ा है। इस वज़ह से एक बार फिर से प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके अप्रेण्टिस भूख हड़ताल करने को मजबूर हो गये हैं।

बिगुल मज़दूर दस्ता और दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने आन्दोलन के समर्थन में धरना-स्थल पर पहुँचकर अपनी बात रखी। बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रसेन ने कहा कि वास्तव में नवउदारवादी नीतियों के असर के चलते आज छँटनी, तालाबन्दी जैसी समस्याएँ आम हो चुकी हैं। सरकारी विभागों में पदों को खाली रखने, पदों को समाप्त करने का काम लगातार चल रहा है। एक ओर बेरोज़गारी भयानक संकट का रूप ले चुकी है, दूसरी ओर सरकार पाँच साल से खाली पड़े पदों को ख़त्म करने के नाम पर लाखों पद ख़त्म करने

जा रही है। ऐसे में आज जो कर्मचारी सरकारी विभागों में काम करते हुए खुद को सुरक्षित महसूस कर रहे हैं, उन तक भी इन नीतियों की लपटें कल ज़रूर पहुँचेंगी। ऐसे में अपने व्यापक हितों के लिए उनको भी इस आन्दोलन के समर्थन में उतरना होगा। साथ ही साथ उदारीकरण-निजीकरण की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ़ छात्र-मज़दूरों-कर्मचारियों की एकता कायम करनी होगी।

दिशा छात्र संगठन और बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं ने आन्दोलन स्थल पर 'जारी है हड़ताल', 'हल्ला बोल' आदि क्रान्तिकारी गीत भी प्रस्तुत किये। आन्दोलन के समर्थन में बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रसेन, राजू के अलावा दिशा छात्र संगठन की ओर से बृजेश, नीशू, अंजलि, अंगद आदि भी उपस्थित रहे।

दिल्ली के बवाना औद्योगिक क्षेत्र में फ़ैक्ट्री की आग में मज़दूरों की मौत पूँजी की रक्तपिपासु राक्षसी के हाथों एक और हत्याकाण्ड

बीते 21 जनवरी की रात बवाना औद्योगिक क्षेत्र में मौत और मायूसी की रात रही। एक पटाखे के कारखाने में, जो बवाना के सेक्टर 5 में स्थित था, भयानक आग लगने से 17 मज़दूरों की मौत हो गयी। 17 वह आँकड़ा है जो सरकार द्वारा दिखाया गया है। असल में जिस समय धमाका हुआ उस वक़्त कारखाने में 42 मज़दूर मौजूद थे। एक स्त्री और एक पुरुष मज़दूर छत से कूदे, जिनके घायल होने की खबर है, इसके अलावा 40 मज़दूर कारखाने में ही फँसे रहे। पर सरकार बताती है कि सिर्फ़ 17 लोग ही मरे। कारखाने के गेट पर फ़ैक्ट्री के बारे में बुनियादी जानकारी भी नहीं थी। जैसेकि फ़ैक्ट्री नम्बर, न्यूनतम वेतन, कर्मचारी संख्या आदि फ़ैक्ट्री गेट पर नहीं लगे थे और यह हालात पूरे बवाना औद्योगिक क्षेत्र में ही है।

इसे 'दुर्घटना' न कहकर 'हत्या' कहना ज़्यादा उचित होगा। कहने के लिए तो बवाना में शनिवार के दिन अवकाश होता है, पर इस दिन भी मालिक कारखाने को चला रहा था। मालिक अन्दर और बाहर से फ़ैक्ट्री में ताला लगाकर मज़दूरों की जान से खिलवाड़ कर रहा था। वास्तव में देखा भी जाये तो इन फ़ैक्ट्री मालिकों के लिए मज़दूरों का मरना कीड़े-मकौड़ों के मरने से कुछ अधिक नहीं है।

कारखाना, जहाँ धमाका हुआ, वह पटाखे का गोदाम था। कहने के लिए तो दिल्ली में पटाखा प्रतिबन्धित है, पर इस प्रकार के अवैध कारखाने पूरी दिल्ली में चल रहे हैं। बवाना की बात करें तो पूरे बवाना में ही 80% कारखाने बिना पंजीकरण के चल रहे हैं। सब अवैध काम दिल्ली सरकार व श्रम विभाग के अधिकारियों की नाक के नीचे होते हैं। इससे ही जुड़ी दूसरी बात है कि आज जहाँ मज़दूर काम करते हैं, वहाँ सुरक्षा के उपकरणों की क्या स्थिति है, इसकी जाँच-पड़ताल का काम श्रम विभाग का है पर श्रम विभाग के इंस्पेक्टर व अधिकारी फ़ैक्ट्रियों में आते ही नहीं, वहीं कभी-कभी आते भी हैं तो सीधा मालिक के मुनाफ़े का एक हिस्सा अपनी जेब में डालकर चले जाते हैं। मज़दूरों की मौत का एक प्रमुख कारण यह भी था कि कम्पनी में सुरक्षा के इन्तज़ाम नहीं थे। आग लगने में प्रशासन की लापरवाही भी साफ़ नज़र आती है। कुछ रिपोर्ट के अनुसार पूरे बवाना में सिर्फ़ एक कारखाना निरीक्षक मौजूद है। बीसीआई (बवाना चैम्बर ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़) की रिपोर्ट बताती है कि एक इंस्पेक्टर 1 साल में सिर्फ़ तीन-चार कारखानों का निरीक्षण करता है। अगर सुरक्षा मानकों पर आधारित डीएफ़एस (दिल्ली अग्निशमन सेवा) के रिकॉर्ड देखें तो यह साफ़ पता चलता है कि 16,000 कारखानों में से सिर्फ़ 636 कारखाने सुरक्षा मानकों पर खरे उतर पाये। पूरे बवाना औद्योगिक क्षेत्र जो

1,865 एकड़ में बसा है वहाँ सिर्फ़ 2 दमकल केन्द्र हैं, जहाँ सिर्फ़ 48000 लीटर पानी है। जिस दिन यह घटना हुई उसी दिन बवाना में दो और जगह पर आग लगी थी। दमकल की गाड़ियाँ भी 1-2 घण्टे बाद घटनास्थल पर पहुँची जब आग ने भयंकर रूप ले लिया था।

• हादसे में जिनकी मृत्यु हुई उनमें से एक गर्भवती महिला भी थी जो दूसरे दिन ही वहाँ काम करने गयी थी, उसे भी इस मुनाफ़े की हवस ने बच्चे समेत लील लिया। 17 मज़दूरों की मौत की पुष्टि हुई है, जिसमें 10 महिला मज़दूर और 7 पुरुष मज़दूर हैं और बाकी मज़दूर अब तक नहीं मिल पाये हैं। इन्हीं में से एक रीता भी थी जिसकी उम्र 18 वर्ष थी। रीता के माता-पिता दोनों अलग-अलग कारखानों में काम करते हैं, पर दोनों का काम करना भी परिवार के लिए आर्थिक रूप से अपर्याप्त था। दोनों मिलकर भी 10-12 हजार ही कमा पाते थे, जिसके कारण रीता को भी काम पर जाना पड़ा। रीता पहले दिन ही उस कारखाने में काम पर गयी थी और वापस ना आ सकी। इसी घटना में एक पति-पत्नी की भी मौत हुई है, जो उसी गोदाम में ही रहते थे। उनका बस अब 7 साल का बच्चा बचा है। बवाना औद्योगिक क्षेत्र में ऐसे बहुत प्रवासी मज़दूर मिल जायेंगे जो कारखाने में ही रहते हैं। दिनभर कारखाने में काम करने के बाद रात में उन्हें कारखानों में मौजूद सीलन भरे दड़बेनुमा कमरों में सोना पड़ता है। इन्हीं मज़दूरों में से एक बेबी भी थी जिसकी वजह से ही पूरे घर की आर्थिकी चल रही थी। बेबी के पति भी मज़दूर हैं, पर शारीरिक दिक्कतों के कारण वह काम नहीं कर पाते। बेबी के तीन बच्चे भी हैं जो अभी तक यह विश्वास नहीं कर पा रहे हैं कि उनकी माँ इन मुनाफ़ाखोरों के कारण मारी गयी। सोनम भी इसी हादसे में मारी गयी। सोनम जिसकी उम्र 23 वर्ष थी। उसकी माता ने बताया कि सोनम ही सारे घर का खर्चा उठाती थी। उसने कई कारखानों में काम किया है। दो-तीन महीने बाद सोनम की शादी होने वाली थी। सोनम की बहन ने बताया कि उस फ़ैक्ट्री में सोनम का पहला दिन था, उसे बताया गया था कि वहाँ गुलाल या प्लास्टिक का काम होता है। कई महिलाएँ जो आग लगने से 1 घण्टे पहले कारखाने से निकल गयी थीं, उन्होंने बताया कि गुलाल का रंग पूरे हाथों और पाँव में बैठ जाता है और कई बार सांस लेने में भी ऐसे माहौल में तकलीफ़ होती थी। उन्होंने मालिक से कई बार पूछा कि गुलाल के अलावा यहाँ क्या काम होता है पर मालिक ने उन्हें डरा-धमकाकर चुप करा दिया। मरने वालों में एक गर्भवती महिला भी शामिल थी, जो सीतापुर की रहने वाली थी, जिसको अभी सीतापुर ही ले जाया गया है।

• जिन मज़दूरों की मृत्यु हुई है उनमें से ज़्यादातर मेट्रो विहार में रहते थे। बवाना औद्योगिक क्षेत्र में बवाना

जेजे कॉलोनी, मेट्रो विहार, सनोठ के ज़्यादातर मज़दूर काम करते हैं। बवाना औद्योगिक क्षेत्र के हर तरफ़ मज़दूर बस्तियाँ स्थित हैं, जिनमें बवाना जेजे कॉलोनी सबसे बड़ी है। जहाँ डेढ़ से दो लाख प्रवासी मज़दूर आबादी रहती है। मेट्रो विहार, सनोठ में भी मुख्यता मज़दूर आबादी ही रहती है जो बवाना औद्योगिक क्षेत्र में ही कार्यरत है। जैसे तो दिल्ली सरकार ने कागज़ों में 13,584 न्यूनतम वेतन किया हुआ है, पर पूरे बवाना में कहीं भी 6-7 हजार से ज़्यादा मज़दूरों को नहीं मिलते हैं। पीएफ़, ईएसआई, बोनस वगैरह तो अपवाद स्वरूप ही किसी कारखाने में मिलता है। 12 घण्टे से कम कहीं भी शिफ़्ट नहीं लगती। ओवरटाइम भी डबल के बजाय सिंगल रेट पर ही मिलता है। महिला मज़दूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। बहुत ऐसे छोटे-छोटे बच्चे भी काम करते मिलेंगे, जिनकी उम्र 12-13 वर्ष है। पूरे क्षेत्र में 3 लाख मज़दूर काम करते हैं। जिनके काम करने के हालात नारकीय हैं। हालत यह है कि यहाँ कारखाने 150-250 स्क्वायर फ़ीट में है जहाँ न तो शौचालय की व्यवस्था होती है न पीने के पानी की, जोकि कारखाना एक्ट के सेक्शन-19 का उल्लंघन है। स्थिति यह है कि मज़दूरों को दस्ताने या मास्क जैसे बुनियादी सुरक्षा उपकरण भी नहीं मिलते। जिसकी शिकायत करने के लिए न तो श्रम कार्यालय मौजूद है न ही कोई यूनियन। श्रम विभाग का कहना है कि बवाना औद्योगिक क्षेत्र में ज़्यादातर लघु उद्योग हैं, और लघु उद्योग कारखाना एक्ट के तहत नहीं आते। मज़दूरों की मौत पर ये साफ़-साफ़ बेशर्मा नहीं तो और क्या है।

• 1996 में बवाना के औद्योगिक क्षेत्र के बसने की शुरुआत हुई। सुप्रीम कोर्ट के आदेशानुसार दिल्ली के मध्य में बसे कारखानों को दिल्ली के उत्तर पश्चिमी छोर पर स्थापित करना था। डीएसआईआईडीसी (दिल्ली स्टेट इन्फ़्रास्ट्रक्चर एण्ड इण्डस्ट्रियल डेवलपमेण्ट कॉरपोरेशन) के पास तब 51,214 छोटे कारखानों के आवण्टन की अर्जी आयी थी, जिसमें से 24,000 आवेदन स्वीकार किये गये। वर्तमान समय में कागज़ों पर 12,000 छोटे कारखाने मौजूद हैं और वास्तविक आँकड़ा 16,000 के आसपास है जिसमें 25,000 उद्यमियों की पूँजी लगी है। बवाना औद्योगिक क्षेत्र को 17 हिस्सों में बाँटा गया है, जिसमें ऑटो पार्ट्स के उद्योग का सबसे अधिक प्रतिशत है, (22.96%)। प्लास्टिक की क़रीब 4,144 इकाइयाँ हैं। टेक्सटाइल और परिधान बुनाई की 4,716। 3000 कारखानों में पेट्रोलियम आधारित उत्पाद बनाये जाते हैं, वहीं 586 कारखाने रसायनों के हैं और 1134 कारखाने फ़र्नीचर उद्योग से सम्बन्धित हैं। डीएसआईआईडीसी का मौजूदा चैयरमैन 'आप' का स्वास्थ्य मन्त्री

सत्येन्द्र जैन है।

• घटना के बाद सारे नेता मन्त्री अपने घड़ियाली आँसू भी लेकर पहुँचे और 'तू नंगा-तू नंगा' का खेल शुरू कर दिया। देखा जाये तो यह सभी नेता मन्त्री इन्हीं मालिकों/पूँजीपतियों के पैसों के दम पर चुनाव लड़ते हैं और फिर इन्हीं जोंकों के लिए काम करते हैं। 'आम आदमी पार्टी' के गिरीश सोनी से लेकर राजेश गुप्ता जैसे नेता स्वयं कारखाने के मालिक हैं, जो खुद अपनी फ़ैक्ट्री में श्रम क़ानून लागू नहीं करते, मज़दूरों को सुरक्षा के उपकरण नहीं देते। यही हाल भाजपा और कांग्रेस के नेता मन्त्रियों का भी है। ऐसे अवैध काम करने के लिए लाइसेंस ये नेता-मन्त्री ही मुहैया कराते हैं। प्रीति अग्रवाल जो उत्तर-पश्चिमी दिल्ली की महापौर है, उसका एक वीडियो भी सामने आया जिसमें वह अवैध कारखानों को लाइसेंस देने की बात क़बूल रही है। अभी इन सभी पार्टियों के नेता कुत्ता-घसीटी कर रहे हैं और एक-दूसरे को घटना का ज़िम्मेदार बता रहे हैं। इनके लिए यह आम घटना है जिसमें इनको नौटंकी से ज़्यादा कुछ नहीं करना होगा। श्रम विभाग की बात करें तो कैग की रिपोर्ट इनकी हक़ीक़त सामने ला देती है। इस रिपोर्ट के अनुसार कारखाना अधिनियम, 1948 (Factories Act, 1948) का भी पालन दिल्ली सरकार के विभागों द्वारा नहीं किया जा रहा है - वर्ष 2011 से लेकर 2015 के बीच केवल 11-25% पंजीकृत कारखानों का निरीक्षण किया गया।

• मुंबई के अमीरजादों के होटल में जब आग लगी और कुछ अमीर जलकर मरे तो सरकार ने तुरन्त गैरक़ानूनी होटलों को सील कर दिया और मालिकों को गिरफ़्तार कर लिया। अब आग बवाना में भी लगी है, लेकिन आगे ऐसी घटना ना हो इसके लिए श्रम विभाग, एमसीडी, दिल्ली सरकार, केन्द्र सरकार ने कोई क़दम नहीं उठाया। उठाये भी क्यों क्योंकि इस आग में मज़दूर मरे हैं और मज़दूर इनके लिए एक आधुनिक गुलाम से ज़्यादा कुछ नहीं हैं। केजरीवाल ने 500000 रुपये देकर इस पूरे मामले में खुद को पाक-साफ़ दिखाने की कोशिश है, पर केजरीवाल, श्रम विभाग अब भी बात नहीं कर रहे कि अभी भी बहुत सारी फ़ैक्ट्रियों में सुरक्षा के हालात नारकीय हैं, न्यूनतम वेतन अब भी कहीं नहीं मिल रहा। इन सब मुद्दों पर खामोशी केजरीवाल का पक्ष बयाँ कर रही है।

• इसी घटनाक्रम में एक और घटना जुड़ गयी, जब 25 जनवरी को मुण्डका के औद्योगिक क्षेत्र में आग लगी। आग इतनी भीषण थी कि इसका अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि आग गोदाम से फ़ैक्ट्री में फैल गयी और 30 दमकल गाड़ियों को बुलाना पड़ा। इस घटना में किसी की मृत्यु नहीं हुई पर मालिक का जो नुक़सान हुआ उसके लिए सान्त्वना देने दिल्ली के डीएसआईआईडीसी के चैयरमैन

सत्येन्द्र जैन तुरन्त पहुँच गये, पर सुरक्षा के सवाल पर अब तक सभी चुप्पी साधे बैठे हैं। बवाना की घटना कोई पहली घटना नहीं है, इससे पहले पीरागढ़ी में भी 2011 में 11 मज़दूर जलकर मरे थे और 2008 में पीरागढ़ी में ही चप्पल की फ़ैक्ट्री में भी मज़दूर मरे थे पर सवाल अब भी ज्यों का त्यों ही बना हुआ है कि फ़ैक्ट्रियों में सुरक्षा के उपाय कब लागू किये जायेंगे, कब तक यँ ही श्रम क़ानूनों का सरेआम उल्लंघन होता रहेगा और कब तक यँ ही पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़े के लिए मज़दूरों की ज़िन्दगी लीलती रहेगी।

इस हादसे के बाद से लोगों में काफ़ी गुस्सा है। बिगुल मज़दूर दस्ता ने घटना के अगले दिन से ही मेट्रो विहार, बवाना जेजे कॉलोनी में पर्चा वितरण किया। गलियों में मीटिंगें करके लोगों को मज़दूरों की इस जघन्य हत्या के विरुद्ध एकजुट किया गया। 29 जनवरी को दिल्ली सचिवालय पर पूरे दिल्ली के मज़दूर इस घटना के खिलाफ़ एकत्रित हुए। प्रदर्शन में सोनीपत, नोएडा, गुडगाँव, वज़ीरपुर, शाहबाद डेरी के मज़दूर शामिल हुए तथा अन्य सहयोगी संगठन नौजवान भारत सभा, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन, मोसरबियर मज़दूर यूनियन, जन अधिकार संगठन, दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन ने शिरकत की। बिगुल मज़दूर दस्ता के सनी ने बात रखते हुए कहा कि - "इस हत्याकाण्ड के लिए फ़ैक्ट्री मालिक से लेकर श्रम विभाग, एमसीडी विभाग व दिल्ली सरकार बराबर के ज़िम्मेदार हैं। पूरे बवाना में 80% फ़ैक्ट्रियाँ बिना पंजीकरण के चल रही हैं, जिनमें सुरक्षा के इन्तज़ाम तक नहीं होते। इन मौतों के लिए समुचित मुनाफ़ाखोर व्यवस्था ज़िम्मेदार है।" प्रदर्शन का अन्त श्रम मन्त्री व मुख्यमन्त्री को एक प्रतिनिधिमण्डल द्वारा तीन सूत्रीय माँगों का ज्ञापन देने के साथ किया गया। जिसमें माँग की गयी कि 1) मृतकों के परिवार को 50 लाख मुआवज़ा या परिवार के सदस्य को सरकारी नौकरी दी जाये। 2) हत्यारे मालिक और इसके लिए ज़िम्मेदार एमसीडी व श्रम विभाग के अधिकारियों को सज़ा दी जाये। अन्तिम माँग यह थी कि दिल्ली सरकार द्वारा औद्योगिक क्षेत्रों में सुरक्षा के पुख्ता इन्तज़ाम किये जायें और श्रम क़ानूनों को लागू किया जाये। इसी के लिए ज्ञापन देने केजरीवाल के ऑफ़िस में पहुँचें तो पता चला कि केजरीवाल व्यापारियों के समर्थन में गये हुए हैं। अन्त में सभा में तय किया गया कि अगर हालात यही रहे तो अगली बार हज़ारों मज़दूर दिल्ली सचिवालय को घेरेंगे। रिपोर्ट लिखे जाने तक बवाना में सुरक्षा के पुख्ता इन्तज़ाम और श्रम क़ानूनों को लागू किये जाने को लेकर 'बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर संघर्ष समिति' का गठन किया जा चुका है, और आगे का संघर्ष जारी है।

— बिगुल संवाददाता

जाति अहंकार में चूर गुण्डों द्वारा दलित छात्र की सरेआम पीट-पीटकर हत्या

उत्तर प्रदेश की सत्ता में बैठी योगी सरकार एक तरफ़ जहाँ अपराधियों पर लगाम लगाने, पुलिस के हाथ खुले होने का ढिंढोरा पीटकर जनता के असन्तोष पर परदा डालने में लगी हुई है। वहीं दूसरी ओर उत्तर प्रदेश में फ़ासिस्ट सत्ता द्वारा संरक्षण प्राप्त गुण्डों द्वारा किया जाने वाला नंगा नाच इस परदे को नोचकर फ़ासीवादी निज़ाम की बर्बर सच्चाई को उजागर कर रहा है।

पिछले दिनों इलाहाबाद में दिलीप सरोज नाम के एक दलित छात्र की पीट-पीटकर हत्या कर दी गयी। इस घटना का सीसीटीवी फ़ुटेज और वीडियो जब वायरल हुआ तो देखने वाला हर शख्स स्तब्ध रह गया है। इस घटना स्थल से सिर्फ़ 200 मीटर की दूरी पर इलाहाबाद के एसएसपी और उसके 100 मीटर आगे डीएम का ऑफ़िस था। लेकिन घटना होने के बहुत देर बाद भी पुलिस वहाँ नहीं पहुँची। पुलिस प्रशासन की संवेदनहीनता इतनी कि इलाहाबाद के

विभिन्न छात्र संगठनों और जनसंगठनों की ओर से जब इस मुद्दे पर व्यापाक आन्दोलन की शुरुआत की गयी, तब जाकर पुलिस ने 24 घण्टे बाद एफ़आईआर दर्ज किया। दिलीप सरोज की मृत्यु की सूचना मिलते ही छात्रों की एक बड़ी संख्या ने अगली सुबह एकजुट होकर पहले एसएसपी ऑफ़िस और फिर डीएम ऑफ़िस का घेराव किया। उसके बाद छात्रों ने इलाहाबाद स्थित बालसन चौराहा पर क्रमिक अनशन की शुरुआत की। आन्दोलन के दौरान संधियों का एक गुट इस पूरे आन्दोलन पर यह आरोप लगाता रहा कि एक छात्र की हत्या को जातिगत पहचान से जोड़ा जा रहा है और यह कि वर्तमान सरकार से इसका कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन बाद में हत्या के मुख्य आरोपी विजय शंकर सिंह की सुल्तानपुर के भाजपा नेता चन्द्रभद्र सिंह के घर से गिरफ़्तारी हुई। योगी सरकार ने अपराध पर अंकुश लगाने

के नाम पर बहुत से निर्दोष युवाओं के एनकाउण्टर कराने का काम किया है। जबकि प्रदेश के मुख्यमंत्री और उपमुख्यमंत्री के ऊपर संगीन अपराधों के मुक़दमे दर्ज हैं। सत्ता पाते ही योगी सरकार ने इन मुक़दमों को रद्द करने का फ़ैसला करके अपने रास्ते में आने वाली क़ानूनी रुकावट को भी साफ़ करने की पूरी तैयारी कर ली है। इतना ही नहीं, फ़ासिस्ट गिरोहों द्वारा भीड़ को उकसा कर हत्याएँ, गुण्डा गिरोहों द्वारा पीट-पीट कर हत्या, गाय और राष्ट्रवाद के नाम पर दंगा आदि फ़ासीवादी कुकृत्य एक के बाद लगातार अंजाम दिये जा रहे हैं।

जब तमाम छात्र संगठन और युवा दोषियों को न्याय दिलाने के लिए मैदान में थे तो कुछ लोग छात्र के साथ 'दलित' शब्द लगाने को मुद्दा बनाने लगे। दलित के नाम पर राजनीति भी कुछ लोग कर रहे थे, जैसाकि हर ऐसे मसले में होता है, लेकिन यह एक तथ्य है कि हत्यारों

द्वारा इतने भयानक बर्बरतापूर्ण व्यवहार के पीछे धन, सत्ता के अलावा जातिगत श्रेष्ठता का अहंकार भी था। यह भी सच्चाई है कि इस समय उत्तर प्रदेश में जिस प्रकार की सवर्णवादी उद्वेगता को बढ़ावा देने की राजनीति चल रही है, उसने भी हत्यारों के हौसले बुलन्द करने का काम किया है। प्रशासन का रुख भी कम सवर्णवादी नहीं है। अगर दिलीप की जगह कोई गाय होती तो पूरा प्रशासन एक टॉग पर खड़ा हो जाता। मगर यहाँ एक तरफ़ तो दलित वोटबैंक को झाँसा देने के लिए दिलीप के परिवार को 20 लाख मुआवज़ा देने की घोषणा की गयी, दूसरी ओर दिलीप को न्याय दिलाने के सवाल पर अनशन कर रहे छात्रों-युवाओं को हटाने के लिए पुलिस ने चार गाड़ी रैपिड ऐक्शन फ़ोर्स बुलाने से लेकर डराने-धमकाने तक पूरा ज़ोर लगा दिया।

इस पूरी घटना के खिलाफ़ और फ़ासीवादी सत्ता को चुनौती देते हुए

इलाहाबाद के छात्र एवं जनसंगठनों की ओर से चलाये जाने वाले इस आन्दोलन को एक तरफ़ चुनावी पार्टियों से जुड़े हुए छात्र संगठनों ने महज़ दिलीप के परिवार को मुआवज़ा दिलाने और अपराधी को फ़ाँसी की सज़ा दिलाने की माँग के इर्द-गिर्द घुमाने का काम किया, जबकि दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा समेत विभिन्न प्रगतिशील और जनवादी संगठनों का मानना था कि यह हत्या कोई अचानक की जाने वाले हत्या नहीं है। आज के समय में फ़ासिस्ट सत्ता के द्वारा पाले गये सवर्णवादी मानसिकता द्वारा यह हत्या की गयी है। दिलीप को न्याय तभी मिलेगा जब इस घटना से सबक लेकर सवर्णवादी मानसिकता और गुण्डई को बढ़ावा देने वाले साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के खिलाफ़ एक व्यापक आन्दोलन की तैयारी की जाये।

— अमित

शिक्षा के क्षेत्र में राजस्थान सरकार की नंगई

बड़े पैमाने पर सरकारी स्कूलों को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी

विजय

राजस्थान सरकार ने बड़े पैमाने पर सरकारी स्कूलों को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी कर ली है। बिजली बोर्ड, जल बोर्ड, किंचित स्वास्थ्य-सेवाओं, रोडवेज़-बस जैसी बुनियादी सेवाओं को तो पहले ही पीपीपी मॉडल के नाम पर निजी हाथों में सौंप दिया गया है। निजीकरण का यह पीपीपी मॉडल अब शिक्षा जैसे अहम क्षेत्र में भी लागू किया जा रहा है। इस नीति के पहले चरण के अन्तर्गत सरकार नये सत्र 2018-19 से प्रदेश के 300 सरकारी स्कूल पीपीपी मॉडल के नाम पर निजी हाथों में सौंपने की कवायद पूरी कर चुकी है। सरकार ने सभी 300 सरकारी स्कूलों को चिन्हित कर निजी हाथों में सौंपने की प्रक्रिया को अन्तिम रूप दे दिया है। ऐसा करने के पीछे सरकार का तर्क है कि इससे सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में सुधार होगा, समाज के ग़रीब तबक़े के बच्चों को बढ़िया शिक्षा मिल सकेगी।

बताया जा रहा है कि चयनित स्कूलों का पूरा स्टाफ़ बदला जायेगा। निजी कम्पनियाँ अपने स्तर पर ही भर्तियाँ करेंगी। इसके अलावा उन स्कूलों के रखरखाव और नियमित संचालन का पूरा काम निजी फ़र्म के हाथ में होगा। सरकारी शिक्षा विभाग का एकमात्र काम होगा - निगरानी का!

वैसे सरकार निगरानी से भी पीछा छुड़ा लेती तो भी स्थिति में कोई खासा फ़र्क़ नहीं पड़ता।

नयी नीति के अनुसार अब से 'वन टाइम इन्वेस्टमेंट' के तहत कोई भी फ़र्म एक स्कूल में 75 लाख का निवेश कर सकेगी। निजी फ़र्म द्वारा किये गये इस निवेश को सरकार द्वारा 12 प्रतिशत ब्याज़ सहित 7 वर्ष में फ़र्म को मूल धन सहित वापस चुकाना होगा। है ना निजी

कम्पनियों के लिए बढ़िया इन्वेस्टमेंट स्कीम! इतना ब्याज़ तो बैंकों से भी नहीं मिलता। इसके अलावा सरकार प्रत्येक स्कूल के लिए फ़र्म को प्रति वर्ष करोड़ों रुपये पुनर्भरण भी देगी। आपको बता दें कि गाँवों और शहरों में सरकारी स्कूलों के पास करोड़ों-करोड़ की ज़मीनें और इमारतें हैं। अब छोटे-बड़े पूँजीपतियों के लिए शिक्षा क्षेत्र में कोई बहुत बड़ा निवेश करने की ज़रूरत भी नहीं रह जायेगी। राजस्थान सरकार ने नारा उठाया है - मालिको! आओ, स्कूल खोलने के लिए आपको ना ज़मीन ख़रीदने की ज़रूरत है ना बिल्डिंगें बनाने की! बस बिल्डिंगों पर थोड़ी चमकीला रंग-रोगन करने की ज़रूरत है। वैसे चिन्ता ना करें, रंग-रोगन का ख़र्चा भी हम ब्याज़ सहित अदा करेंगे।

जिन स्कूलों को पीपीपी मॉडल के तहत लाया जा रहा है उनमें ग्रामीण क्षेत्र के 225 तथा शहरी क्षेत्र के 75 स्कूलों को चिन्हित किया गया है। चिन्हित भी ऐसे स्कूलों को किया गया है जिनमें विद्यार्थियों की संख्या 1000 से ज्यादा है। यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि कुछ महीनों पहले ही राजस्थान सरकार ने सरकारी स्कूलों में छात्रों की संख्या कम होने को आधार बनाकर स्कूलों के समायोजन की योजना लागू की थी। यानी छोटे स्कूलों को बन्द करके उनमें पढ़ने-पढ़ाने वाले छात्रों व अध्यापकों को बड़े स्कूलों में स्थानान्तरित कर दिया था। उस योजना के तहत 19000 से अधिक छोटे स्कूलों को बन्द कर दिया गया था। इससे हुआ यह कि बड़े स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या बढ़ गयी। अब चुन-चुनकर उन बड़े सरकारी स्कूलों को ही निजी हाथों में सौंपा जा रहा है। इसे यँ भी कह सकते हैं कि अगर उन 19000 स्कूलों का ठेका सीधे निजी

हाथों में देने का क्रम उठाया जाता तो यह बड़ा मुद्दा बन जाता इसलिए घुमाकर कान पकड़ा गया है।

सरकार का कहना है कि छात्रों को मिलने वाली सुविधाएँ (मिड-डे मील व मुफ्त किताबें) पहले की तरह ही चालू रहेंगी। यहाँ ग़ौर करने लायक बात यह है कि सरकार की उक्त सुविधाएँ स्कूल के 40% छात्रों के लिए ही होंगी। बाक़ी 60% छात्र निजी प्राधिकार के तहत नामांकित होंगे। उन 60% छात्रों से तो निजी फ़र्म अपने नियम-क़ानून व मुनाफ़े के हिसाब से फ़ीस वसूल करेगी लेकिन बाक़ी के 40% छात्रों से कितनी फ़ीस वसूली जायेगी यह अभी साफ़ नहीं किया गया है। वैसे भी निजी क्षेत्र नुक़सान वाले सौदों में हाथ नहीं डालता। वह अपने ख़र्च की भरपाई और मुनाफ़े के लिए फ़ीस बढ़ाने का काम करेगा ही करेगा। अगर सरकार सब्सिडी देकर उसके ख़र्च की भरपाई करती है, तो इसका मतलब यह निकलता है कि यह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष करों के ज़रिये जनता से वसूला गया पैसा सरमायेदारों के हाथों में पहुँचाने का कुटिल षड्यन्त्र है! बात यहीं पर नहीं रुकती। निजी फ़र्म को दिये जाने वाले टेण्डर प्रस्ताव के अनुसार स्कूलों में छात्रों की संख्या भी सीमित रखी जायेगी। इसके पीछे सरकार का तर्क है कि छात्रों की संख्या सीमित होने से शिक्षा के स्तर में सुधार होगा। परन्तु सरकार ने यह नहीं बताया है कि उन छात्रों का क्या होगा जो स्कूल कि पहुँच से बाहर कर दिये जायेंगे? क्या उनके लिए नये सरकारी स्कूल खोले जा रहे हैं या फिर उन्हें पूरी तरह निजी स्कूलों के भरोसे छोड़ दिया जायेगा? यहाँ यह साफ़-साफ़ समझा जा सकता है कि सरकार ग़रीब तबक़े के छात्रों को बढ़िया शिक्षा के नाम पर महँगी शिक्षा

का डोज़ पिलाना चाहती है। परन्तु वह जिस सच्चाई से आँख मूँद रही है वह यह कि उस ग़रीब तबक़े के पास महँगी या "बढ़िया" शिक्षा (सरकार के शब्दों में) ख़रीदने के पैसे होते तो उनके बच्चे सरकारी स्कूलों में नहीं पढ़ते। वे भी अमीरजादों की औलादों की तरह महँगे-महँगे, ऊँचे-ऊँचे स्कूलों में पढ़ते। अब इस क्रम से होगा यह कि ग़रीब तबक़े के उन छात्रों के लिए सरकारी स्कूल के द्वार भी बन्द हो जायेंगे।

इस मसले का एक अन्य पहलू यह भी है कि एक मोटे आंकलन के अनुसार इन 300 स्कूलों से करीब 15000 अध्यापकों के पद समाप्त हो जायेंगे। इतना तो पहले चरण में ही हो रहा है, दूसरे-तीसरे चरण के आते-आते लाखों अध्यापकों के पद समाप्त होना तय है। यानी नयी अध्यापक भर्तियाँ भी बन्द होंगी। साथ ही साथ इन 300 स्कूलों को पीपीपी के अन्तर्गत ला देने से करीब 2.50 लाख छात्र स्कूल छोड़ने पर मजबूर हो जायेंगे। कहा जा सकता है कि शिक्षा को बिकाऊ माल बना देने की इस नीति से बड़े ठेकेदारों के तो ख़ूब वारे-न्यारे हैं, परन्तु ग़रीब तबक़े के छात्रों के लिए शिक्षा हासिल करना दूभर हो जायेगा। हालाँकि शिक्षा को माल बनाकर बेचने का काम तो कई दशकों से होता आ रहा है, लेकिन ग़रीब बच्चों को नाममात्र के लिए जो मुफ्त सरकारी शिक्षा उपलब्ध हुआ करती थी सरकार अब उसको भी ख़त्म कर देने पर आमादा है। यह ग़रीब तबक़े के साथ सरासर अन्याय व निजी स्कूलों की लूट को बढ़ावा देना नहीं तो और क्या है?

यह सब तब हो रहा है जब प्रदेश में सरकारी स्कूलों के छात्रों ने मेरिट में प्राइवेट स्कूलों को पछाड़ा है और सरकारी स्कूलों में 30% एडमिशन बड़े

हैं। फिर ऐसी क्या आपदा आन पड़ी कि सरकार को ऐसा क्रम उठाना पड़ रहा है? इसका जवाब हमें सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था के संकट में तलाशना होगा। 1990 के बाद से देश भर में जारी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के पीछे उद्देश्य ही यही था कि सभी सार्वजनिक क्षेत्रों का निजीकरण कर दिया जाये ताकि बड़े पूँजीवादी घराने मन्द पड़ चुकी मुनाफ़े की रफ़तार को बढ़ा सकें। 2008 से व्यवस्था मन्दी के विश्वव्यापी संकट की चपेट में है; वह अपने संकट का बोझ आम आदमी की जेब से उसकी आमदनी का एक-एक कतरा निचोड़कर हल्का करना चाहती है। यह तय है कि आने वाले दिनों में ग़रीब-मेहनतकश जनता पर महँगाई व अप्रत्यक्ष करों का बोझ और बढ़ेगा। मज़दूरों की छँटनी, कारखानों की तालाबन्दी व बेरोज़गारी की सीमा अपने चरम पर है और यह सिलसिला रुकने वाला नहीं। सरकारें जनकल्याण के हर क्षेत्र से अपने हाथ खींच रही हैं, जनता की सम्पत्ति बड़े मालिकों के हाथों में सौंप रही हैं। यह सिर्फ़ राजस्थान की ही बात नहीं है, पूरे देश के पैमाने पर यही सब हो रहा है। ऐसे हालात में इस सबके विरोध में प्रदेश के छात्र-नौजवानों सहित व्यापक ग़रीब आबादी को देर-सवेर सड़कों पर आना ही होगा। अपने हितों की रक्षा की खातिर जनता को संगठित होकर खुद लड़ना होगा। किसी भी चुनावी पार्टी से कुछ भले की उम्मीद करना मूर्खता होगी क्योंकि सभी चुनावी पार्टियाँ मालिकों की ही सेवा करती हैं और सभी सरकारें मालिकों की मैनेजिंग कमेटियाँ ही होती हैं।

असली मुद्दों को कस के पकड़ रहो और काल्पनिक मुद्दों के झूठ को समझो।

राजकुमार

आज देश की मुनाफ़ा केन्द्रित लूट का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जनवरी 2018 की ऑक्सफ़ेम इण्टरनेशनल संस्था की एक रिपोर्ट के अनुसार 2017 में देश में पैदा हुई कुल सम्पत्ति का 73 प्रतिशत हिस्सा देश के 1 प्रतिशत अमीरों ने हाथों में केन्द्रित हो गया है। इसके साथ 2016 के आँकड़े देखें तो पूँजीवादी नीतियों ने ग़रीब मज़दूरों की मेहनत से पैदा होने वाली देश की कुल सम्पत्ति का 58.4 फ़ीसदी हिस्सा 1% अमीरों के हाथों में केन्द्रित कर दिया है। 2010 से 2014 के बीच यूपीए के कार्यकाल में 3 सालों के दौरान देश की कुल सम्पत्ति का अमीरों के हाथों में केन्द्रीकरण 40.3% से 49% हो गया था, जो 2014 से 2016 के बीच मोदी सरकार के 3 सालों में 9.4% और बढ़ चुका है (1)। एक ऐसे देश में जहाँ 5 साल से कम उम्र का हर दूसरा बच्चा कुपोषण का शिकार है, जहाँ नौजवान महिलाओं की आधी से अधिक आबादी एनेमिक है (2), जहाँ ग़रीबी और भुखमरी के शिकार लोगों की संख्या दुनिया में सबसे ज्यादा है (3), और जो देश ग़रीबी रेखा की सूची में 119 देशों में 100वें स्थान पर हो (4), उस देश में सम्पत्ति का ऐसा केन्द्रीकरण कोई स्वभाविक प्रक्रिया नहीं है। बल्कि पूँजी संचय के हर एक फ़ीसदी बढ़ोत्तरी के लिए देश के करोड़ों मज़दूरों की एक-एक हड्डी को निचोड़ लिया जाता है और करोड़ों और नौजवानों को बेरोज़गारी में भटकने के लिए सड़क पर धकेल दिया जाता है। आज़ादी से आज तक जनता का सारे संसाधनों से बेदखली

और खुले निजीकरण का परिणाम यह है कि भारत जैसे अति-पिछड़े पूँजीवादी देश में 90 प्रतिशत से अधिक मज़दूर आबादी अनियमित मज़दूरी में लगी है, जो अनिश्चित भविष्य के ख़ौफ़ में हिंसक कार्य परिस्थितियों में काम करने के लिए मजबूर है, जिनके पास कोई नियमित रोज़गार नहीं है (5)। देश की आम जनता की सापेक्ष जीवन परिस्थितियाँ लगातार बद से बदतर हो रही हैं, इसके हालिया उदाहरण मार्च 2017 में जारी मानवीय विकास सूचकांक है। लगातार “विकास” कर रहा भारत 188 देशों की इस सूची में 131वें स्थान पर खिसक गया है। मानवीय विकास के जो मानक ध्यान में रखे गये हैं, उनमें मुख्य हैं एक लम्बा और स्वस्थ जीवन, ज्ञान की पहुँच, और एक सम्माननीय जीवन स्तर। और इन मानकों के आधार पर भारत अपने नागरिकों को एक अच्छा जीवन स्तर देने में श्रीलंका से भी पिछड़ा हुआ है। जबकि पूँजी की आपराधिक लूट के दम पर मज़दूरों के परजीवी के रूप में अरबपतियों की संख्या यहाँ सबसे तेज़ी से बढ़ रही है (6)।

आँकड़ों में व्यक्त इस घोर असमानता का व्यावहारिक रूप से समाज की व्यापक आबादी पर क्या प्रभाव पड़ता है उसके एक उदाहरण पर नज़र डालते हैं। गुड़गाँव के एक औद्योगिक क्षेत्र के पास एक मज़दूर बस्ती में हजारों मज़दूर रहते हैं, जो मारुती और होण्डा जैसी बड़ी कम्पनियों और उनके लिए पुर्जे बनाने वाली अनेक छोटी-छोटी कम्पनियों में मज़दूरी करते हैं। इस बस्ती में अन्दर जाने पर हम

देखेंगे कि यहाँ बनी लॉजों के 10x10 फ़िट के गन्दे कमरों में एक साथ 4 से 6 मज़दूर रहते हैं जो कमरे पर सिर्फ़ खाने और सोने के लिए आते हैं। इसके सिवाय ज़्यादातर मज़दूर दो शिफ्टों में काम करने के लिए सप्ताह के सातों दिन 12 से 16 घण्टे कम्पनी में बिताते हैं, जिसके बदले में उन्हें 6 से 14 हजार मज़दूरी मिलती है जो गुड़गाँव जैसे शहर में परिवार के साथ रहने के लिए बहुत कम है। इन मज़दूर इलाकों में कोई सरकारी सुविधाएँ नहीं होतीं और ये इलाके डेंगू-चिकनगुनिया से सैकड़ों मज़दूरों की जान निगल जाते हैं। इस इलाके के सामने मुख्य गली में हर समय गन्दे नाले का पानी और कूड़े का ढेर पड़ा रहता है, जिससे अपनी महँगी कारें ले जाते समय मध्यवर्ग के कई व्यक्ति नाक-भों सिकोड़ते दिखते हैं, क्योंकि उनकी कार उस नाले के पानी से गन्दी हो जाती है। लेकिन हजारों मज़दूर उसी कूड़े के ढेर के ऊपर से नाले के पानी को पैदल पार कर मारुती और होण्डा में बड़ी-बड़ी लगज़री कारें बनाने के लिए 12 से 16 घण्टे काम करने जाते हैं। ऊपर देश की सम्पत्ति के केन्द्रीकरण और समाज में व्याप्त असमानता के जो आँकड़े हम देख चुके हैं, यह तस्वीर इन आँकड़ों की ज़मीनी सच्चाई की एक छोटी-सी झलक है।

ऐसी हैं “विकासशील” देश के “स्वतन्त्र” उजरती गुलामों के जीवन स्तर की परिस्थितियाँ। और इन्हीं परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं व्यापक जनता के राजनीतिक मुद्दे। लेकिन कहीं भी इन मुद्दों का कोई ज़िक्र होता नहीं दिखता। टीवी, अखबारों और मध्यवर्ग

की चाय-पर-चर्चा में इनमें से एक भी मुद्दा कभी नहीं उठता। सम्पत्ति और देश के सभी साधन पैदा करने वाले इन करोड़ों मज़दूरों की बदहाल ज़िन्दगी का चेहरा कभी हमें अखबारों, टीवी और अन्ना-केजरीवाल जैसे मध्यवर्ग-केन्द्रित राजनीतिक धड़ों या जातीय मुद्दों को उठाने वाले आन्दोलनों में सामने नहीं आने दिया जाता। यहाँ तक कि प्रतिक्रियावादी संगठन मज़दूरों की नयी पीढ़ी को व्हाट्सएप, फ़ेसबुक जैसी सोशल मीडिया, या प्रत्यक्ष सभाओं और प्रचार के अन्य माध्यमों से मज़दूर बस्तियों में इन मुद्दों से बेखबर रखने के हर कोशिश में लगे हैं। पूँजी की चापलूसी करने वाले ये गुट जनता को दिग्भ्रमित करने के लिए हर स्तर पर झूठे प्रेपोगेण्डा में लगे हुए हैं। काल्पनिक समस्याओं के समाधान के लिए गढ़ी जा रही खोखली व्याख्याओं से अपनी वैचारिक समझ को भ्रष्ट होने से बचाने के लिए यह ज़रूरी है कि व्यापक स्तर पर लोग राजनीतिक चेतना और समाज के वास्तविक हालात की समझ से लैस हों, जिन्हें प्रतिक्रियावादी प्रेपोगेण्डा से गुमराह न किया जा सके। जो यह समझ सकें कि देश और समाज की बहुसंख्यक आबादी के जीवन की परिस्थितियाँ क्या हैं, और उन्हें सुधारने के लिए वास्तविक मूलभूत मुद्दे क्या हैं, ग़रीबों की गाढ़ी मेहनत से बने देश में उन्हें सभी सुविधाओं से बेदखल होकर क्यों रहना पड़ रहा है, बढ़ती ग़रीबी और अमीरी की खाई के बीच देश की आर्थिक और सामाजिक असमानता का मूल कारण क्या है, देश में बेरोज़गारी की स्थिति क्या है, देश की

व्यापक मेहनतकश मज़दूर और किसान आबादी की दयनीय जीवन स्थिति का कारण क्या है और शहरों में काम करने वाले करोड़ों मज़दूरों की परिस्थितियाँ कितनी वीभत्स हैं, करोड़ों बेरोज़गार कितना मानसिक उत्पीड़न झेल रहे हैं और किसी भी शर्त पर पूँजी की गुलामी करने पर मजबूर हैं।

चुने गये नेताओं द्वारा गढ़े जाने वाले खोखले चुनावी नारों की जुमलेबाजी और सरकारों द्वारा लागू की जाने वाली नीतियों और राजनीतिक स्ट्रैटेजी में क्या एक भी ऐसी नीति है जिससे मेहनत के सहारे जीने वाली व्यापक ग़रीब जनता की जीवन परिस्थितियों में कोई सुधार होगा और आने वाली पीढ़ियों को एक ऐसा भविष्य मिल सकेगा, जहाँ रोज़गार की अनिश्चितता न हो और हर एक व्यक्ति को एक सम्मानित जीवन जीने का मौक़ा मिले सके। थोड़ी भी राजनीतिक चेतना रखने और सबके लिए समानता एवं स्वतन्त्रता के हिमायती जागरूक नागरिक यह महसूस कर सकते हैं कि पूरे समाज में एक ऐसा माहौल बन रहा है जिसमें तर्क करने वालों और असमानता भरे पूरे सामाजिक ढाँचे पर सवाल उठाने वाले विचारों को दबाया जा सके। सच को चाहे कितना भी तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की जाये, उसे छुपाया नहीं जा सकता, करोड़ों मज़दूरों की जीवन परिस्थितियाँ उन्हें स्वयं उनके मुद्दों के बारे में शिक्षित कर देती हैं, जिन्हें भटकाने के लिए भिन्न-भिन्न मनगढ़न्त तर्क और मुद्दे गढ़े जा रहे हैं।

मुक्तिबोध की कहानी

समझौता

(पेज 15 से आगे)

गये वे दिन जब वह किसी का मित्र तो किसी का पुत्र था। पेट भूखा ही क्यों न सही, आँखें तो सुन्दर दृश्य दे सकती थी और वह सुनहली धूप! आहा! कैसी खूबसूरत! उतनी ही मनोहर जितनी सुशीला की त्वचा!

लेकिन वह अपने पर ही विस्मित हो उठा। यह सब वह सह सका, ज़िन्दा रह सका, कच्चा मांस खा सका। मार खा सका और जीवित रह सका। क्या वह आदमी है? शायद, पशु बनने की प्रक्रिया पहले से ही शुरू हो गयी थी।

नाश्ते का समय आया। किन्तु, नाश्ता गोल! राम-राम कहते-कहते भोजन का समय आया तो वह भी ग़ैर-हाज़िर! पेट का भूखा! क्या करे! शायद, भोजन आता ही होगा! लेकिन, उसे बिलकुल भूख नहीं है, ज़बान सूखी हुई है। अगर वह चिल्लाया तो पहले की भाँति, मुँह में कपड़ा ठूस दिया जायेगा और उससे और तकलीफ़ होगी। खैरियत इसी में है कि चुप रहे, और आराम से साँस ले। एकाएक सामने का एक बड़ा भारी पिंजरा खुला। अब तक उसमें कुछ था नहीं, लेकिन अब उसमें एक

बड़ा-डरावना शेर हलचल करता हुआ दिखायी दे रहा था। एकाएक उसका भी पिंजरा खुला और दोनों पिंजरों के दरवाज़े एक-दूसरे के सामने हो लिये। और, आदमियों की जो छायाएँ इधर-उधर दिखायी दे रही थीं, वे गायब हो गयीं।

एकाएक शेर चिंघाड़ा। ऋक्षावतार का रोम-रोम काँप उठा, कण-कण में भय की मर्यान्तक बिजली समा गयी। रीछ को मालूम हुआ कि शेर ने ऐसी ज़ोरदार छलाँग मारी कि एकदम उसकी गरदन उस दुष्ट पशु के जबड़े में जकड़ी गयी। हृदय से अनायास उठनेवाली ‘मरा-मरा’ की ध्वनि के बाद अँधेरा-सा फैलने लगा। शेर की साँस उसके आसपास फैल गयी, शेर के चमड़े की दुर्गन्ध उसके कानों में घुसी थी कि इतने में उसके कान में कुछ कम्पन हुआ, कुछ स्वर-लहरें घुसी जो कहने लगीं: "अबे डरता क्या है, मैं भी तेरे ही सरीखा हूँ, मुझे भी पशु बनाया गया है, सिर्फ़ मैं शेर की खाल पहने हूँ, तू रीछ की!"

इस बात पर रीछ को विश्वास करने या न करने की फ़ुर्सत ही न देते हुए शेर ने कहा, "तुम पर चढ़ बैठने की सिर्फ़ मुझे

कवायद करनी है, मैं तुझे खा डालने की कोशिश करूँगा, खाऊँगा नहीं। कवायद नहीं की तो हंटर पड़ेंगे तुमको और मुझको भी! आओ, हम दोस्त बन जायें, अगर पशु की ज़िन्दगी बितानी है तो ठाठ से बिताएँ, आपस में समझौता करके।"

मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा। बात मुझ पर कसी गयी थी। बड़ी देर तक बात का मज़ा लेता रहा। फिर मेरे मुँह से निकल पड़ा, "तो गोया आप शेर हैं, और मैं रीछ।" ... मुझ पर कहानी का जो असर हुआ उसकी ओर तनिक भी ध्यान न देते हुए, अत्यन्त दार्शनिक भाव से मेरे अफ़सर ने कहा, "भाई, समझौता करके चलना पड़ता है ज़िन्दगी में, कभी-कभी जान-बूझकर अपने सिर बुराई भी मोल लेनी पड़ती है। लेकिन उससे फ़ायदा भी होता है। सिर सलामत तो टोपी हज़ारा।"

अफ़सर के चेहरे पर गहरा कड़वा काला ख़याल जम गया था। लगता था मानो वह स्वयं कोई रटी-रटाई बात बोल रहा हो। मुझे लगा कि ज़िन्दगी से समझौता करने में उसे अपने लम्बे-लम्बे पैर और हाथ काटने-छाँटने पड़े हैं। शायद मुझे देखकर उसे उस बैल की याद

आयी थी, जिसके सिर पर जुआ रखा तो गया है, लेकिन जो उससे भाग-भाग उठा है। शायद, उसे इस बात की खुशी भी हुई थी कि मुझमें वह जवान नासमझी है, जो गलत और फ़ालतू बातें एक मिनट गवारा नहीं कर सकता।

मैंने पूछा, "तो मैं इस काग़ज़ पर दस्तख़त कर दूँ?" उसने दबाव के साथ कहा, "बिला शक, वार्निंग देनेवाला मैं, लेनेवाले तुम, मैं शेर तुम रीछ।" यह कहकर हँस पड़ा, मानो उसने अनोखी बात कही हो। मैंने मज़ाक़िया ढंग से पूछा, "मैं देखना चाहता हूँ कि शेर के कहीं दाँत तो नहीं हैं।" "तुम भी अजीब आदमी हो, यह तो सर्कस है, सर्विस नहीं।" "देखो, आज पाँच साल की नौकरी हो गयी। एक बार भी न एक्स्प्लेनेशन दिया, न मुझे वार्निंग आयी। मज़ा यह है कि यह ऐक्टिंग उस बात के खिलाफ़ है जो मैंने कभी की ही नहीं। यह कलंक है उस अपराध का जो मैंने कभी किया ही नहीं।" उसने कहा, "तब तुमने भाड़ झोंका। अगर एक्स्प्लेनेशन देने की कला तुमको नहीं आयी तो फिर सर्विस क्या की। मैंने तीन सौ साठ एक्स्प्लेनेशन दिये हैं। वार्निंग

अलबत्ता मुझे नहीं मिली, इसलिए कि मुझे एक्स्प्लेनेशन लिखना आता है, और इसलिए कि मैं शेर हूँ, रीछ नहीं। तुमसे पहले पशु बना हूँ। सीनियॉरिटी का मुझे फ़ायदा भी तो है। कभी आगे तुम भी शेर बन जाओगे।" बात में गम्भीरता थी, मज़ाक़ भी। मज़ाक़ का मज़ा लिया, गम्भीरता दिल में छिपा ली। इतने में मैंने उससे पूछा, "यह कहानी आपने कहाँ सुनी?" वह हँस पड़ा। बोला, "यह एक लोककथा है। इसके कई रूप प्रचलित हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वह रीछ बीए नहीं था, हिन्दी में एमए था।" भयानक व्यंग्य था उसके शब्दों में। मैंने उससे सहज जिज्ञासा के भोले भाव से पूछा, "तो क्या उसने सचमुच फिर से मैनेजर को नहीं देखा।" वह मुस्कराया। मुस्कराता रह गया। उसके मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला, "यह तो सोचो कि वह कौन मैनेजर है जो हमें-तुम्हें, सबको रीछ-शेर-भालू-चीता-हाथी बनाये हुए है।" मेरा सिर नीचे लटक गया। किसी सोच के समन्दर में तैरने लगा। तब तक चाय बिलकुल ठण्डी हो चुकी थी और दिल भी।

बजट और आर्थिक सर्वेक्षण : झूठ का एक और पुलिन्दा

(पेज 1 से आगे)

मोदी केयर या मोदी लूट?

सबके लिए स्वास्थ्य की व्यवस्था के बजाय 10 करोड़ गरीब परिवारों के लिए घोषित की गयी बीमा योजना का फ़ायदा कृषि बीमा की तरह बीमा कम्पनियों को ही होगा। स्वास्थ्य बीमा योजना स्वास्थ्य सेवाओं के पूर्ण निजीकरण का ऐलान ही है, जिसका फ़ायदा निजी सामान्य बीमा कम्पनियों और मुनाफ़े के लिए मरीज के साथ कुछ भी करने को तैयार फ़ोर्टिस, अपोलो, जैसे निजी कॉर्पोरेट अस्पतालों को ही होगा। कृषि बीमा के नाम पर ऐसा पहले ही हो चुका है जहाँ 22 हजार करोड़ रुपये का प्रीमियम जमा हुआ और 8 हजार करोड़ के दावे का भुगतान - बीमा कम्पनियों को 14 हजार करोड़ रुपये का सीधा लाभ जिसका एक हिस्सा तो बैंकों ने किसानों के खातों से ज़बरदस्ती निकाला और दूसरा आम जनता के टैक्स के पैसे से गया। स्वास्थ्य बीमा में भी यही होने वाला है। अब सरकार सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के पूर्ण निजीकरण की तैयारी करेगी। उसके अनुसार 50 करोड़ जनता के लिए तो बीमा कराया जायेगा, लेकिन शेष 85 करोड़ जनता का क्या होगा? क्या ये सब अमीर लोग हैं? अब ये सब होंगे खुद पर पूरी तरह निर्भर और निजी अस्पतालों द्वारा लुटने के लिए मजबूर। इसके लिए 2 हजार करोड़ का प्रावधान बजट में है! जबकि बीमा के लिए शुरुआती अनुमान के अनुसार इससे कहीं बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी। यह कहाँ से आयेगा - एक हिस्सा तो यहाँ भी जनता से वसूल होगा और दूसरा हिस्सा केन्द्र व राज्यों द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को बन्द करके बचाये गये खर्च या नये टैक्स लगाकर आयेगा। कुल मिलाकर यह आम लोगों की लूट और बीमा व निजी अस्पताल कम्पनियों के लिए बड़ी सबसिडी है।

भारत में स्वास्थ्य बीमा वाला काम अभी थोड़ा नया है, पर यहाँ की हकीकत तो पहले ही बहुत खतरनाक है। स्कॉल में प्रकाशित एक रिपोर्ट में पहले की राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना के बारे में कुछ विवरण है। 2011 में सिर्फ़ बिहार में ही 16000 महिलाओं के गर्भाशय निकालने के ऑपरेशन का बीमा अस्पतालों ने लिया, कुछ के तो झूँसे में फँसाके निकाल ही डाले, कुछ के तो सिर्फ़ कागज़ों में ही ऑपरेशन हो गये! 2013 में कर्नाटक के कलबुर्गी ज़िले में 38 गाँवों के सर्वे में 707 महिलाओं के गर्भाशय निकालने के केस मिले, इनमें से आधी 35 वर्ष से कम, 20% तो 30 वर्ष से कम थीं, कुछ मात्र 20 साल की! पेट दर्द हुआ, डॉक्टर को दिखाया तो 'बच्चेदानी खराब है, निकलवाओ नहीं तो कैसर हो जायेगा!' डराओ, ऑपरेशन करो, बीमा ले लो!

ऐसे मामले राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, पूरे देश में पकड़े गये हैं। यह तो 25-30 हजार के बीमा की स्थिति थी, अब पाँच लाख में सरकार का प्रिय निजी क्षेत्र क्या-क्या जुल्म ढा सकता

है, यह कल्पना तो फ़ोर्टिस, अपोलो, जैसे अस्पतालों के हाल में सामने आये मामले बता ही रहे हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के बदले बीमा का विचार स्वास्थ्य सुधारने का नहीं पूँजीपतियों के फ़ायदे का विचार है! इसीलिए अस्पताल चलाने वाली और बीमा कम्पनियों के अनुसार गरीब मरीजों के लिए बजट में विश्व का सबसे बड़ा क्रदम उठाया गया है!

किसानों की आय दोगुनी!

सर्वे में कृषि सम्बन्धित मुख्य बातों में एक है कि 1960-61 में भारतीय कृषि में लगने वाली कुल चालक शक्ति का 93% जीवित (मनुष्य-पशु) स्रोतों से आती थी, 2014-15 में वह 10% ही रह गयी जबकि 90% चालक शक्ति यान्त्रिक/विद्युत जनित हो गयी। यही वजह है कि भारत आज दुनिया का सबसे बड़ा ट्रैक्टर बनाने वाला देश है - कुल वैश्विक उत्पादन का एक तिहाई हाल के सालों में बुआई से कटाई तक के लिए अन्य मशीनों के प्रयोग में भी भारी तेज़ी आयी है और इन्हें किराये पर देने का कारोबार भी ज़ोर पकड़ा है। यह भी कि श्रम केन्द्रित के मुक़ाबले यान्त्रिक कृषि में लागत 20% कम और उत्पादकता 30% अधिक होती है। दूसरे, उत्पादन वृद्धि के कारण अभी कृषि उत्पादों के भी 'अति-उत्पादन' की स्थिति पैदा हो गयी है जिससे अधिकांश किसानों को प्राप्त होने वाले फ़सलों के बाज़ार भाव अक्सर न्यूनतम समर्थन मूल्य के नीचे ही रहते हैं। इसलिए अधिकांश किसानों की वास्तविक आय में पिछले सालों में काफ़ी गिरावट आयी है। तीसरे, तापमान और वर्षा के पर्यावरण परिवर्तन के कारण खेती खासकर 55% से भी अधिक अभी भी असिंचित खेती में किसानों की आय में लगभग 20% कमी आने की सम्भावना है जिसके समाधान के लिए उन्नत सिंचाई तकनीक के प्रसार और बिजली डीजल पर सबसिडी को समाप्त कर बाज़ार लागत से जोड़ने की ज़रूरत है। चौथे, जीडीपी में 16% योगदान वाले कृषि क्षेत्र से 49% रोज़गार प्राप्त होते हैं, जीडीपी में कृषि का योगदान बढ़ना मुमकिन नहीं इसलिए यहाँ से अतिरिक्त श्रमिकों को उद्योग या सेवा क्षेत्र में ले जाने की आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि छोटी-मँझली जोतों वाले किसान जो या तो कृषि यन्त्रों को क़र्ज़ पर लेकर कम जोत की वजह से पूरा प्रयोग नहीं कर पाते, या ऊँचे किराये पर प्रयोग करते हैं या मानवीय-पशु श्रम का अधिक इस्तेमाल करते हैं, उनकी उत्पादन लागत ज़्यादा है, जबकि अमीर किसान (खासकर 10 हेक्टेयर से अधिक जोत वाले) इनका अधिक उत्पादक स्तर व कम लागत पर इस्तेमाल करते हैं। फिर 5-6% अमीर किसान अपनी फ़सल को समर्थन मूल्य पर भी बेच पाते हैं या भण्डारण कर सही वक़्त पर ऊँचे मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। ये ही अन्य किसानों की उपज भी कम दामों में ख़रीद कर बिचौलिए वाला लाभ भी प्राप्त करते हैं, जबकि शेष किसान समर्थन मूल्य के

बजाय फ़सल आते ही क़र्ज़ चुकाने और ज़रूरतों के बोझ की वजह से गरज बेचा होकर लागत से भी कम मूल्य पाते हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का यह प्रभाव ही अधिकांश किसानों के कंगालीकरण का मुख्य कारण है।

आर्थिक सर्वे के ही ठीक पहले राष्ट्रपति ने संसद में यह भी ऐलान किया कि सरकार 2022 तक किसानों की आय दोगुना करके ही रहेगी! बाद में आर्थिक सर्वे में बताया गया कि पिछले 4 साल से इसमें कोई बढ़ोतरी हुई ही नहीं है और आगे पर्यावरण परिवर्तन से इसके 25% तक कम होने का जोखिम भी है!

पूँजीवाद के अनिवार्य नियम से अधिकांश छोटे, मँझले किसानों का कंगाल होना तय है। उनकी खेती को लाभप्रद नहीं बनाया जा सकता। इस प्रक्रिया में उन्हें नयी औद्योगिक खेती द्वारा निगल ही लिया जायेगा, जिसकी पहले से ही तेज़ होती गति को प्रस्तावित कॉन्ट्रैक्ट फ़ार्मिंग क़ानून द्वारा बढ़ाया जा रहा है और आर्थिक सर्वे भी इस दिशा की पुष्टि कर रहा है।

सर्वे यह भी बता रहा है कि पिछले कई सालों से (2016 के अच्छे मानसून के कुछ अपवाद स्वरूप महीनों को छोड़कर) महँगाई के साथ देखने पर खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी नहीं बढ़ रही है जबकि 2011 की जनगणना के अनुसार कुल कृषि आधारित जनसंख्या के 47% भूमिहीन मज़दूर हैं तथा अधिकांश सीमान्त किसानों की आय का मुख्य स्रोत भी मज़दूरी है। अतः कृषि में छोटे सीमान्त किसानों और खेत मज़दूरों के लिए जीवन निर्वाह नामुमकिन हो गया है। यन्त्रीकरण की तेज़ होती गति श्रमिकों की माँग और मज़दूरी की दर को और भी कम करेगी।

बजट प्रस्ताव इसके लिए क्या समाधान देते हैं? बजट में वित्त मन्त्री ने कहा कि सरकार स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट के अनुसार फ़सलों की उत्पादन लागत पर 50% लाभ वाला न्यूनतम समर्थन मूल्य देगी; लेकिन बजट बाद के बयान में स्पष्ट किया गया है कि यह मौजूदा गणना के अनुसार ही ए2 (प्रत्यक्ष भुगतान लागत) + एफ़एल (किसान परिवार के श्रम की अनुमानित लागत) वाले सूत्र से तय होगा ना कि स्वामीनाथन आयोग वाले सी2 सूत्र से जिसमें उपरोक्त के अतिरिक्त निवेशित पूँजी का ब्याज़ और ज़मीन का किराया शामिल होता है। इस गणना के आधार पर तो सरकार रबी की फ़सलों के समर्थन मूल्य में पहले ही लागत पर 50% लाभ दे चुकी है, अब खरीफ़ की फ़सलों में भी यह लाभ इसी तरह दे दिया जायेगा; हो सकता है कि कुछ फ़सलों के समर्थन मूल्य में कुछ वृद्धि हो। पर इसका जो भी मतलब हो यह न्यूनतम समर्थन मूल्य सिर्फ़ 5-6% किसानों को ही मिलता है। इससे ग्रामीण जनता के अधिकांश को कोई लाभ नहीं होने वाला।

अन्य प्रस्तावों में अब लीज पर ज़मीन लेने वालों को भी बैंक क़र्ज़ मिलेगा। पर बैंक क़र्ज़ के लिए समझा

जा सकता है कि औपचारिक कॉन्ट्रैक्ट की ज़रूरत होगी, छोटे बटाईदारों को इसका लाभ नहीं मिलेगा। सरकार बड़ी संख्या में नयी मण्डियाँ बनायेगी। कृषि प्रसंस्करण उद्योगों के लिए पूँजी और क़र्ज़ उपलब्ध कराया जायेगा। मछली पालन, बाँस उद्योग, आदि के लिए भी पूँजी और तकनीक उपलब्ध करायी जायेगी। सर्वोपरि यह कि किसानों की संयुक्त कृषि उत्पादक कम्पनियाँ अब 100 करोड़ तक के कारोबार पर कोई टैक्स नहीं देंगी।

स्वाभाविक है कि इन कम्पनियों के पास बड़ी जोत होगी और ये अधिक यन्त्रीकृत और श्रम शक्ति पर कम निर्भर औद्योगिक खेती करेंगी। आर्थिक सर्वे पहले ही बता चुका है कि यन्त्रीकृत खेती में लागत 20% कम आती है और उत्पादकता 30% अधिक होती है - ऐसे समझें कि अगर एक सामान्य किसान 100 रुपये लागत पर 100 रुपये मूल्य का उत्पादन करता है, कोई लाभ नहीं कमाता तो यन्त्रीकृत खेती में 80 रुपये की लागत पर 130 रुपये मूल्य का उत्पादन होगा अर्थात् 50 रुपये या 62% का लाभ! बड़ी पूँजी के साथ बड़े पैमाने पर उत्पादन, भण्डारण क्षमता, व्यापार, क्रय-विक्रय में प्राप्त होने वाले अन्य लाभ भी होंगे। इस तरह किसी भी स्तर के बाज़ार मूल्यों पर भी छोटे किसान इनके साथ प्रतियोगिता में टिक नहीं सकते। उपरोक्त अन्य घोषणाएँ भी कृषि में बैंक पूँजी के दखल और उन्नत तकनीक के प्रयोग को बढ़ायेगी जिसमें छोटे गरीब किसान असमर्थ होंगे। इससे कृषि के व्यावसायीकरण, संकेन्द्रण और छोटे किसानों की बेदखली और सर्वहाराकरण की रफ़्तार तेज़ होगी। यह माना जा सकता है कि इस सबसे इन पूँजीपति किसानों की आमदनी दोगुनी हो जायेगी 2022 तक लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इससे अधिकांश छोटे-सीमान्त किसानों और खेत मज़दूरों के जीवन में संकट और गहन ही होगा।

अभी अधिकांश किसान अपने अनुभव से इस बात को जानते हैं मगर दूसरा कोई विकल्प नहीं होने से उसमें लगे रहने को मजबूर हैं। लेकिन वे भी अपने बच्चों के लिए खेती के बाहर कोई जीवन निर्वाह योग्य रोज़गार ही चाहते हैं। इसीलिए आज किसी सरकारी दफ़्तर में चपरासी जैसी नौकरी का भी मौक़ा हो तो रिश्तत देने के लिए अधिकांश किसान अपनी ज़मीन बेचने तक को तैयार हैं। पंजाब जैसे सबसे विकसित कृषि वाले राज्य में इसीलिए बच्चों को कनाडा, इटली कहीं भी जाकर मज़दूरी कराने के लिए किसान ज़मीनें बेच दे रहे हैं। इस स्थिति को सिर्फ़ वही नहीं जानते जो गाँव और खेती से कोई वास्ता नहीं रखते, खुद ज़मीन हो तो भी कभी शहर छोड़कर गाँव नहीं जाने वाले, हाँ, कभी-कभी पर्यटक के तौर पर गाँव की ताज़ा आबोहवा का आनन्द उठाने ज़रूर जाते हैं! पर आम किसानों को लाभप्रद खेती का कभी पूरा न हो पाने वाला सपना दिखाने में कोई गुरेज महसूस नहीं करते! आज खेत मज़दूरों और छोटे-सीमान्त

किसानों के सामने मुख्य सवाल जीवन निर्वाह योग्य रोज़गार का है।

पर रोज़गार कहाँ हैं?

आर्थिक सर्वे के कुछ दिन पहले ही स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया और आईआईएम, बैंगलोर के दो घोष नामक विद्वानों ने संगठित क्षेत्र में 70 लाख नयी सृजित औपचारिक नौकरियाँ ढूँढ़ निकाली, मोदी सरकार ने भी तुरन्त इसका प्रचार शुरू कर दिया। आर्थिक सर्वे में भी इस 'असाधारण खोज' को आगे बढ़ाते हुए औपचारिक क्षेत्र में बढ़ते रोज़गार की चर्चा की गयी है! इन विद्वानों का कहना है कि पिछले वर्ष हर महीने 5.9 लाख नये पीएफ़ खाते खुले मतलब 70 लाख रोज़गार तो सिर्फ़ औपचारिक संगठित क्षेत्र में ही सृजित हुए! लेकिन खुद सर्वे के अनुसार इस वक़्त भारत में कुल 6 करोड़ रोज़गार ही संगठित क्षेत्र में हैं जिसमें से पिछले एक साल में ही 70 लाख नये जुड़े हैं अर्थात् 13.2% इज़ाफ़ा! आश्चर्य है कि रोज़गार में इतनी भारी वृद्धि की यह बात और किसी को तो छोड़िए इसके पहले खुद सरकार और रिज़र्व बैंक, लेबर ब्यूरो किसी को पता नहीं थी! साथ ही यह भी बताया जा रहा है कि नौ करोड़ मुद्रा लोन भी बाँटे गये हैं पिछले दो वर्ष में स्वरोज़गार के लिए! ऊपर से मोदी जी के 'पकौड़े' वाले रोज़गार भी हैं! अगर यह सब सच है तो मानना पड़ेगा कि देश में अब कोई बेरोज़गार बचा ही नहीं है। जिसे बेरोज़गारी नज़र आती है वह 'नकारात्मक' बातें फैला रहा है! जबकि सेण्टर ऑफ़ मॉनिटरिंग ऑफ़ इण्डियन इकोनॉमी के आँकड़ों के अनुसार देश में इस वक़्त कुल रोज़गार ही 40 करोड़ से कुछ अधिक हैं।

वैसे तो रोज़गार सृजन के इस दावे को ग़लत सिद्ध करने में ज़्यादा कुछ तर्क की ज़रूरत तो नहीं है, फिर भी चन्द बातें अर्थशास्त्र/सांख्यिकी के नज़रिये से कही जा सकती हैं - प्रथम, रिटायर, छँटनी वाले कहाँ गये, उसे घटाना होगा; दूसरे, नोटबन्दी, जीएसटी की वजह से कुछ हद तक हुए औपचारिकीकरण के असर को घटाना होगा क्योंकि ये नये रोज़गार नहीं हैं; तीसरे, आज भी नौकरी बदलने पर अक्सर पीएफ़ खाता बदल जाता है, इसका असर भी घटाना होगा; सबसे बड़ी बात, यह 'चमत्कारी' डाटा इन दो 'विद्वानों' को ही उपलब्ध क्यों कराया गया है, इसे सब शोधकर्ताओं के लिए सार्वजनिक क्यों नहीं किया गया?

फिर थोड़ी देर के लिए सरकारी दावों को सही मान भी लें कि संगठित क्षेत्र में बड़ी तादाद में रोज़गार सृजित हो रहे हैं तो अगली बात आर्थिक सर्वे से यह पता चलती है कि 86% पीएफ़ खाते वालों का मासिक वेतन 15 हजार रुपये से कम है। औसत 5 सदस्यों का परिवार लें तो 100 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति दिन! यह तो संगठित क्षेत्र के औपचारिक रोज़गार का हाल है, असंगठित की कल्पना कर लीजिए जबकि खुद केन्द्र सरकार के वेतन आयोग ने तीन वर्ष

(पेज 9 पर जारी)

बजट और आर्थिक सर्वेक्षण : झूठ का एक और पुलिन्दा

(पेज 8 से आगे)

पहले 5 सदस्यों के परिवार के लिए 18 हजार रुपये न्यूनतम वेतन तय किया था जिसे अब महंगाई के कारण खुद इसी सरकार द्वारा 22 हजार रुपया करने की खबर भी है।

वैसे तो सरकारी दारों के मुताबिक शायद कोई बेरोज़गार बचा ही नहीं है फिर भी मेहनतकश जनता पर असीम कृपा करते हुए बजट में अब डेढ़ करोड़ और रोज़गार देने का वादा किया गया है। इसके लिए कहा गया है कि नयी नौकरियाँ देने वाली कम्पनियों को प्रोत्साहन देने के लिए नये श्रमिकों के प्रोविडेंट फ़ण्ड में मूल वेतन के 12% का मालिकों की ओर से दिया जाने वाला योगदान अब पहले 3 साल तक सरकार देगी। इससे मालिकों को फ़ायदा होगा यह तो निश्चित है लेकिन रोज़गार सृजित होंगे यह नहीं क्योंकि इस 12% का फ़ायदा लेने के लिए अतिरिक्त श्रमिक रखने का फ़ैसला कोई पूँजीपति क्यों लेगा? हाँ, कुछ मौजूदा श्रमिकों की जगह नये रख कर फ़ायदा ले लिया जायेगा। दूसरे, सरकार अब ठेका रोज़गार और निश्चित अवधि नौकरी (fix term hire) को बढ़ावा देगी। इसके नियमों से अब नौकरी से निकालने के लिए 3 महीने के नोटिस की ज़रूरत नहीं रही। 3 महीने के अन्दर बिना नोटिस, उसके बाद 15 दिन का नोटिस देकर कर्मचारी को नौकरी से निकाला जा सकेगा। पूँजीपति और चारण विशेषज्ञ वाहवाही में कह रहे हैं कि इससे नौकरियाँ बढ़ जायेंगी!

लेकिन नये रोज़गार आये कहां से? पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पहले ही 'अति-उत्पादन' की शिकार है क्योंकि अधिकांश मेहनतकश जनता घटती या स्थिर आमदनी के कारण अपने उपभोग की वस्तुएँ खरीदने में असमर्थ है जिससे निजी पूँजी निवेश बहुत कम हो गया है। अभी औद्योगिक क्षेत्र 70% स्थापित क्षमता पर काम कर रहा है, उद्योगों के कम क्षमता पर काम करने से ताप विद्युत केन्द्रों में भी उत्पादन स्थापित क्षमता के

66% पर ही हो रहा है; शायद पहली बार बिजली की माँग उत्पादन क्षमता से कम है। नतीजा यह कि 2004-05 के आधार वर्ष के हिसाब से कुल स्थाई पूँजी निवेश 2009 के लगभग 33% से घटकर 2018 में अनुमानित 26% पर पहुँच गया है। साथ ही खुद केन्द्र सरकार का खर्च भी संकटग्रस्त है - उसमें वृद्धि की दर जो 2008 में 24% होती थी, अब सिर्फ 8% रह गयी है क्योंकि सरकार की वित्तीय हालत खराब है।

सरकार की वित्तीय स्थिति खराब क्यों है?

बजट के अनुसार वित्तीय घाटा अनुमानित 3.2% के बजाय 3.5% हो गया है। नोटबन्दी के बाद तो सरकारी आमदनी में भारी वृद्धि के बड़े-बड़े दावे किये जा रहे थे। मोदी-जेटली रोज़ दावे करते थे कि करोड़ों टैक्स चोर पकड़े गये! बड़ी खबरें आती थीं कि इतने लोग शक के घेरे में हैं, जाँच हो रही है! लेकिन अब आर्थिक सर्वे के अनुसार नोटबन्दी-जीएसटी के कारण 18 लाख नये व्यक्तियों ने आयकर रिटर्न तो ज़रूर जमा की जो पहले आयकर दाताओं का 3% हैं। पर इनमें से अधिकांश आयकर की सीमा ढाई लाख से नीचे वाले हैं और इनसे आयकर की वसूली में कोई खास वृद्धि नहीं हुई है। साफ़ है कि कुछ मँझली आय वाले किसी वजह से नक़दी होने से चाहे फँस गये हों पर कोई बड़ा लुटेरा जाल में न फँसा! यही वजह है कि मध्यवर्गीय भक्तों की भारी उम्मीदों के बावजूद भी उन्हें आयकर दरों में राहत तो मिली नहीं, उसके बजाय और थोड़ा सरचार्ज ही लग गया! जेटली साहेब ने उनको याद दिलाया कि नौकरीपेशा ग़रीब नहीं अमीर होते हैं और हर नौकरीपेशा आयकरदाता औसत 76 हजार रु सालाना टैक्स देता है।

आर्थिक सर्वे यह भी दिखाता है कि विभिन्न देशों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों से सरकार को कितनी आय होती है जिससे पता चलता है कि सबसे तेज़ आर्थिक विकास के दोनों बड़े दावेदार,

भारत और चीन, अमीरों पर लगने वाले प्रत्यक्ष कर बहुत कम लगाते हैं और अमीर-ग़रीब, पूँजीपति-मेहनतकश सब पर समान दर पर लगने वाले अप्रत्यक्ष कर बहुत अधिक - सरकार की कुल टैक्स आमदनी के 70% से भी ज्यादा। सर्वे यह शुभ समाचार (पूँजीपतियों के लिए, और किसके, सरकार उनकी प्रबन्धकारिणी समिति जो है!) भी देता है कि जीएसटी के बाद अप्रत्यक्ष करों का अनुपात और भी बढ़ जायेगा। प्रत्यक्ष करों में और भी छूट देने का इरादा है - कॉर्पोरेट हो या आयकर! वैसे भी पिछले कुछ वर्षों से इनका हिस्सा घट रहा है। जाहिर है कि विकास का अर्थ पूँजीपतियों का विकास है, सारे देश का नहीं, वर्गविभाजित समाज में 'सारे देश के हित' की बात सिर्फ शोषण, अन्याय के खिलाफ़ विद्रोह को रोकने के लिए ही होती है! पूँजीवाद में तेज़ विकास के लिए मेहनतकशों का शोषण भी तेज़ करना होता है। अप्रत्यक्ष कर मज़दूरों की श्रम शक्ति से हुए उत्पादन में से पूँजीपति वर्ग द्वारा हस्तगत किये गये अधिशेष को बढ़ा देता है, उनका विकास करता है।

इसके विपरीत पूँजीपति तबक़े को ठोस, वास्तविक लाभ हुआ है। पीएफ़ योगदान, स्वास्थ्य बीमा, हवाई योजना की सबसिडी के लाभों के अतिरिक्त उनके लिए कॉर्पोरेट टैक्स की दर में कमी की गयी है। अब 250 करोड़ रुपये तक कारोबार वाली कम्पनी सिर्फ 25% टैक्स देंगी। वैसे भी बड़ी कम्पनियाँ तो खुद आयकर विभाग के आँकड़ों के अनुसार सिर्फ 21-22% ही टैक्स चुकाती हैं चाहे घोषित दर 30% हो क्योंकि उन्हें इसमें कई तरह की छूट दी जाती है। कृषि उत्पादक कम्पनियों को तो अब 100 करोड़ के कारोबार तक पूरा टैक्स माफ़ कर दिया गया है।

टैक्स आमदनी के साथ गैर-टैक्स आमदनी भी जो पहले कुल सरकारी आमदनी का 16-18% रहती थी अब 2018-19 के लिए अनुमानित 10% ही रहने वाली है। इस किस्म की आमदनी में रिज़र्व बैंक, अन्य

बैंकों, वित्तीय-गैर वित्तीय संस्थानों के लाभांश होते हैं जो सभी कम हुए हैं या अपेक्षित रूप से नहीं बढ़े हैं। साथ ही सरकार द्वारा व्यावसायिक गतिविधियों के लिए वसूले जाने वाले शुल्कों में भी पूँजीपतियों को समय-समय पर राहत पैकेज के नाम पर भारी छूट दी गयी है। अडानी पोर्ट्स नामक कम्पनी पर लगी 200 करोड़ की पेनाल्टी माफ़ करना, टेलीकॉम कम्पनियों को दी गयी छूटें इसके कुछ उदाहरण हैं।

बैंकिंग व्यवस्था का संकट

पूँजी निवेश और सरकारी खर्च घटने के पीछे एक और वजह है बैंकिंग व्यवस्था का संकट, जिसे सँभालने के लिए ही केन्द्र सरकार को बड़ी मात्रा में पूँजी की व्यवस्था करनी पड़ी है। आर्थिक सर्वे और बजट में यह आशा जाहिर की गयी थी कि दिवालिया क़ानून और रिज़र्व बैंक द्वारा उठाये गये उपायों से यह संकट जल्दी ही दूर हो जायेगा, कम से कम नये एनपीए अब सामने नहीं आयेंगे। मगर यह आशा मात्र 8 दिनों में ही ग़लत सिद्ध हो गयी। 8 फ़रवरी को आये नतीजों के मुताबिक़ अक्टूबर-दिसम्बर की तिमाही में स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया को 2,416 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। उसके 25 हजार 836 करोड़ के क़र्ज़ और डूब गये, कुल एनपीए अब 1 लाख 99 हजार करोड़ है, जिसमें वो शामिल नहीं जो पहले ही राइट ऑफ़ कर दिये गये हैं। कुल क़र्ज़ का 10.35% अब एनपीए है और अनुमान है कि अभी यह और बढ़ेगा, हालाँकि सरकार और रिज़र्व बैंक मिलकर इसे छिपाने की कोशिश में जुटे हैं - 6 फ़रवरी को ही बैंकों को छूट दी गयी है कि कुछ छोटी-मध्यम कम्पनियों के क़र्ज़ को 6 महीने तक वसूली न होने पर ही एनपीए दिखाया जाये, जबकि पहले 90 दिन तक वसूली रुकने पर ही एनपीए दिखाना होता था। घाटे का यह स्तर भी तब है जबकि बैंक ने अभी डूबे क़र्ज़ से होने वाली हानि के 2 तिहाई से कम के लिए ही अलग राशि का इन्तज़ाम किया है -

अर्थात होने वाले घाटे के लिए प्रोविजन अभी 66% से कम है!

एसबीआई भारत की कुल बैंकिंग का एक चौथाई है अर्थात इसके नतीजों से पूरी अर्थव्यवस्था के बारे में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। हुआ यह है कि पहली संकटग्रस्त कम्पनियाँ तो अभी फँसी ही हैं, पर अब कुछ और नयी कम्पनियाँ आर्थिक संकट के दलदल में जा गिरी हैं - खास तौर पर स्टील और बिजली क्षेत्र में संकट ने कुछ और कॉर्पोरेट को निगल लिया है जिसका नतीजा ये नये सिरे से बढ़ते एनपीए हैं। साथ ही नोटबन्दी से बैंकों के पास सस्ते जमा का जो भण्डार इकट्ठा हुआ था, अब वह खत्म है; मोदी-जेटली और भाड़े के भोंपुओं के तमाम झूठे दावों के बावजूद अर्थव्यवस्था में नक़दी लेन-देन पहले के स्तर पर जा पहुँचा है। सस्ते फ़ण्ड के खत्म होने से बैंकों की सेहत में हुए नक़ली सुधार का दौर खत्म हो चुका है। जमा की तरलता के अभाव में ब्याज दर बढ़ने लगी हैं, उनके कम ब्याज दर वाले सरकारी बॉण्ड भी उतने फ़ायदेमन्द नहीं रहे, उनकी क्रीमतें भी गिर रही हैं। इस संकट का नतीजा सिर्फ़ एसबीआई और सरकारी बैंकों में ही नहीं, अब तक बड़े सशक्त माने जाने वाले एचडीएफ़सी, आईसीआईसीआई, एक्सिस, यस, कोटक महिन्द्रा बैंकों के नतीजों में भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। साथ ही कुछ दशक पहले की तरह यह संकट आ और जा नहीं रहा बल्कि एक दौर के खत्म होने की बातें करते-करते नये संकट की आहट आ जा रही है। स्पष्ट है कि बैंकिंग व्यवस्था को सँभालने के लिए केन्द्र सरकार को अभी और मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होगी तथा नया पूँजी निवेश अभी भी सीमित ही रहेगा अर्थात पूँजीवादी व्यवस्था का संकट जारी रहेगा, लेकिन इसका सारा बोझ आम मेहनतकश जनता पर ही डाला जायेगा।

बढ़ते घपले-घोटाले और पूँजीवाद

— कविता कृष्णपल्लवी

घोटालों ने आज़ाद भारत के सभी रिकार्ड ध्वस्त कर दिये। पी.एन. बी. घोटाला, रफ़ाएल डील घोटाला, सृजन घोटाला, आई.पी.एल. घोटाला, शौचालय घोटाला, व्यापम घोटाला, मेडिकल घोटाला (जिसमें उँगली सीधे सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की ओर उठी थी)... — और ये सभी घोटाले तो हिमखण्ड का ऊपर दिखायी देने वाला सिरा मात्र है। जब सारी जाँच एजेंसियाँ जेब में हों और मीडिया पूँजी और उसकी मैनेजिंग कमेटी (सरकार) के दरवाज़े पर बैठी हुई कुतिया जैसा हो गया हो, तो सतह के नीचे छिपे तमाम घोटालों के सामने आने की उम्मीद कोई बेहद मासूम आदमी करेगा या परले सिरे का उल्लू।

लेकिन हम फिर ज़ोर देकर इस

बात को कहना चाहते हैं कि भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद एक कपोल-कल्पना है। पूँजीवाद अपने आप में एक "मान्यता-प्राप्त" भ्रष्टाचार है। "हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है" (बालज़ाक)। पूँजी श्रम-शक्ति की क़ानूनी लूट है। जहाँ क़ानूनी लूट होगी वहाँ अवैध लूट भी होगी। जहाँ "सफ़ेद पैसा" होगा, वहाँ काला पैसा भी होगा। दरअसल पूँजीवाद में सफ़ेद और काले धन का कोई अन्तर होता ही नहीं। एक हजार एक रास्तों से सफ़ेद धन काला और काला धन सफ़ेद होता रहता है। काले-सफ़ेद के खेल में लगे खिलाड़ी जब उस सीमा तक चले जाते हैं कि "खेल के नियमों" को तोड़कर खेल ही बिगाड़ने लगते हैं तो व्यवस्था के नियामक आगे आते हैं और कुछ खिलाड़ियों को मैदान से बाहर

निकालकर खेल को फिर से व्यवस्थित किया जाता है। ऐसे ही समय में कुछ "सदाचार के मसीहा" सुथराजी लोग भी नायक बनकर आगे आते हैं और इस व्यवस्था के दामन पर लगी गन्दगी को तरह-तरह के डिटेर्जेंट से धोकर साफ़ करते हैं और लोगों में यह उम्मीद पैदा करते हैं कि कुछ भ्रष्टाचारी व्यक्तियों को किनारे लगाकर पूँजीवादी व्यवस्था को कल्याणकारी और भ्रष्टाचार-मुक्त बनाया जा सकता है।

पूँजीवादी व्यवस्था जैसे-जैसे संकटग्रस्त और पतनोन्मुख होती जाती है, वैसे-वैसे भ्रष्टाचार और अवैध लूट बढ़ती चली जाती है। आज यही हो रहा है। जितने घोटाले घूस, ग़बन, कमीशनखोरी और वित्त-बाज़ार की जालसाजियों के रूप में हो रहे हैं, उससे सैकड़ों और हजारगुना बड़ा घोटाला

तो यह है कि जनता की गाढ़ी कमाई से खड़ी की गयी सार्वजनिक परिसम्पत्तियाँ कौड़ियों के मोल निजी पूँजीपतियों को सौंपी जा रही हैं, खदानें, ज़मीनें, जंगल और नदियाँ तक मिट्टी के मोल पूँजीपतियों को मुनाफ़ा कूटने के लिए नीलाम की जा रही हैं और सालाना लाखों परिवारों को बलपूर्वक उनकी जगह-ज़मीन से दर-बदर किया जा रहा है। निजीकरण-उदारीकरण की मुहिम का मतलब ही है कि पूँजीवादी शोषण अब डाकेज़नी की शक्ति अख़्तियार कर चुका है। नवउदारवाद के दौर में हड़्डियाँ निचोड़ने वाले शोषण, मज़दूरों के अधिकारों में अधिकतम सीमा तक कटौती, पूँजी के अत्यधिक वित्तीयकरण, पूँजी की सेवा के लिए सरकारों की बढ़ती निरंकुशता, फासीवादी उभार और पूँजीपतियों की चरम प्रतिस्पर्धा

की स्थिति में भ्रष्टाचार का घोटाला — ये सभी चीज़ें लाज़िमी तौर पर एक साथ सामने आ रही हैं।

भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई यदि पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ाई का अंग नहीं है, तो वास्तव में उसका कोई मतलब ही नहीं है। हमें भ्रष्टाचार के इन उदाहरणों से जनता को यह बताना होगा कि आज का पूँजीवाद ऐसा ही हो सकता है और भ्रष्टाचार से निजात पाने का अकेला रास्ता है — पूँजीवाद से निजात पाना।

अन्त में, जो लोग एक भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवादी जनवाद के 'मुंगेरी लाल के हसीन सपने' आज भी देखते रहते हैं, उनके लिए हम लगभग सवा सौ साल पहले एंगेल्स और सौ साल पहले लेनिन द्वारा कही गयी बातों का हवाला देना चाहते हैं। इन दोनों उद्धरणों पर गौर (पेज 2 पर जारी)

सोवियत संघ में सांस्कृतिक प्रगति - एक जायज़ा

(पहली किश्त)

सोवियत संघ के बारे में आज मजदूरों को, और अन्य लोगों को, कम ही जानकारी है। विज्ञान या इतिहास के विद्यार्थियों ने तो शायद सोवियत संघ के बारे में पढ़ा होगा लेकिन इसकी प्राप्ति के बारे में आम वाक्यांश कम ही है। या फिर जानकारी यदि है भी तो एक सीमित क्षेत्र तक है, मसलन विज्ञान के विद्यार्थियों ने अन्तरिक्ष में जाने वाले पहले इंसान यूरी गागरिन, अन्तरिक्ष में जाने वाली कुतिया लायका के बारे में सुन रखा होगा या फिर इतिहास के विद्यार्थियों ने सोवियत संघ की तरफ से हिटलर की फ़ासीवादी सेना को दी करारी हार के बारे में पढ़ा होगा, ऐसी लड़ाई कि जिसकी कोई दूसरी मिसाल पूरे विश्व के इतिहास में नहीं मिलती। या फिर सोवियत संघ की भौतिक प्रगति, इसके उद्योगीकरण, पाँच-साला योजनाओं के बारे में भी कुछ लोगों को जानकारी होगी कि वह कैसे मिसाली प्राप्ति थी। लेकिन इस सब भौतिक प्रगति के अलावा सोवियत सरकार की तरफ से अपने नागरिकों की मानसिक प्रगति के लिए, उनके सौन्दर्य-बोध को विकसित करने के लिए क्या-क्या किया गया और क्या प्राप्ति थी, इसके बारे में जानकारी का अभाव है। जिन साधियों ने डायसन कार्टर की किताब 'पाप और विज्ञान' पढ़ी होगी उनको इसकी झलक जरूर मिली होगी। हमारे पास इस समय एक किताब मौजूद है, जिसका नाम है 'सोवियत संघ में सांस्कृतिक प्रगति - सांख्यिकीय विवरण'। इसमें उन्होंने उन सोवियत संस्थायों के आँकड़े इकट्ठा किये हैं जो कि सरकार ने अपने नागरिकों के लिए क्रायम की या जिनका उन्होंने विस्तार किया। इसमें सोवियत संघ में स्थापित की गयी प्रौद्योगिक संस्थायों, मजदूर क्लबों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, सिनेमाघरों, नाटकघरों आदि के आँकड़े हैं। हम जानते हैं कि किसी भी समाज की मानसिक प्रगति का, वहाँ के नागरिकों के सौन्दर्य-बोध का अन्दाज़ा वहाँ मौजूद संस्कृति के ऐसे केन्द्रों से लगाया जा सकता है। इन आँकड़ों के द्वारा हम सोवियत संघ की इसी प्रगति को देखने की कोशिश करेंगे और जहाँ तक सम्भव हो सका अपने देश के हालातों के साथ भी तुलना करने का प्रयास करेंगे। ये आँकड़े सोवियत संघ में क्रान्तिकारी दौर तक ही सीमित हैं - यानी 1917 में हुई अक्टूबर क्रान्ति से लेकर 1953 में कॉमरेड स्तालिन की मौत होने तक। गौरतलब है कि सोवियत संघ में खुशेव धड़े के सत्ता पर काबिज़ होने के साथ ही सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का काम शुरू हो गया था। यह सही है कि इन संस्थाओं का निर्माण इसके बाद भी कुछ हद तक होता रहा क्योंकि पूरा सामाजिक प्रबन्ध राज्यसत्ता तबदीली के साथ ही रातों-रात नहीं बदल जाता बल्कि उसे समय लगता है, इसी तरह खुशेव की पूँजीवादी नीतियों के बुरे प्रभाव सोवियत समाज और संस्कृति के इन केन्द्रों पर पड़ने में

भी कुछ समय लगा। परन्तु यह सब यहाँ हमारी दिलचस्पी का विषय नहीं है।

आइए पहले बात करते हैं पुस्तकालयों की।

सोवियत संघ में सब प्रकार के पुस्तकालयों (समेत सरकारी पुस्तकालय, वैज्ञानिक और खोज-कार्यों के स्वायत्त पुस्तकालय, उच्च-शिक्षा संस्थाओं, स्कूलों और शिशु-ग्रहों के पुस्तकालय, अस्पतालों, खेल क्लबों के पुस्तकालय आदि शामिल थे) की संख्या 1935 में 1,15,542 थी जिनके पास कुल किताबों की संख्या 29,88,95,000 थी। 1954 तक यह संख्या बढ़कर 3,88,127 पुस्तकालयों तक हो गयी जिनके पास अब कुल किताबों की संख्या 1,17,07,72,000 थी, यानी कुल किताबों की संख्या 117 करोड़ से ऊपर थी। अब बात करते हैं सिर्फ सरकारी पुस्तकालयों की। 1935 में कुल 1,15,542 पुस्तकालयों में से 50,870 सरकारी पुस्तकालय थे जबकि 1954 में 3,88,127 पुस्तकालयों में से सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 1,40,125 थी। यदि इसकी 1917 की अक्टूबर क्रान्ति से पहले के समय के साथ तुलना करनी हो तो 1914 में कुल सरकारी पुस्तकालय 13,876 थे जिनमें किताबों की संख्या 94,42,000 थी। यानी, 1954 में सरकारी पुस्तकालयों की संख्या में 10 गुणा से भी ज्यादा वृद्धि हुई। यहाँ एक और बात गौर करने लायक है - 1939 में जब

दूसरा वैश्विक युद्ध शुरू होता है तब सोवियत संघ में कुल सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 77,775 थी जो 1941 में (नाज़ियों के हमले से बिल्कुल पहले) बढ़कर 95,401 हो गयी। इसके बाद 1946 तक आते-आते (यानी दूसरे वैश्विक युद्ध के अन्त तक) इस संख्या में एक बड़ी गिरावट नज़र आती है और यह 47,440 सरकारी पुस्तकालयों तक ही रह जाती है। मौजूद किताब में तो इसके कारण का कोई जिक्र नहीं किया गया लेकिन यह मानने का पूरा कारण है कि फ़ासीवादी नाज़ियों ने सोवियत संघ की तरफ अपने हमले के दौरान पुस्तकालयों को भी नहीं बख़्शा और इनको तबाह करते गये। फ़ासीवादियों की वैसे भी ज्ञान-विज्ञान विरोधी जो सोच होती है इसके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और असंख्य सबूत हैं। लेकिन सोवियत सरकार ने भी अपने लोगों की मेहनत के साथ इस बड़े नुक़सान की एक हद तक भरपाई युद्ध के बाद के पाँच सालों के दौरान ही कर ली थी जब 1950 में सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 1941 के आँकड़े को पार करके 1,10,306 हो गयी थी। ये सभी पुस्तकालय सरकारी पुस्तकालयों, साँझे-फ़ार्मों के पुस्तकालयों, ट्रेड-यूनियन संस्थाओं के पुस्तकालयों और विभिन्न विभागों के पुस्तकालयों के रूप में उनके अनुपात और जरूरत के मुताबिक बाँटी गयी थीं जिनमें उनकी

जरूरत के मुताबिक सम्बन्धित साहित्य (सामाजिक या राजनीतिक, प्राकृतिक विज्ञानों या खेती या तकनीकी विज्ञान से सम्बन्धित, या फिर आम साहित्य और बच्चों का साहित्य) मुहैया करवाया जाता था। साथ ही, दिलचस्प बात यह है कि इस तरह नहीं था कि ये पुस्तकालय अकेले रूस में ही केन्द्रित थे, बल्कि भौगोलिक क्षेत्र और आबादी के लिहाज़ से ये सोवियत संघ के सभी हिस्सों, समेत कम विकसित हिस्सों (जैसे कि एशियाई क्षेत्र जिसमें अज़रबाइजान, तुर्कमेनिस्तान, उज़्बेकिस्तान, किरगिज़स्तान जैसे देश आते थे) में भी अनुपात के मुताबिक बाँटे गये थे। एक और दिलचस्प आँकड़ा इन पुस्तकालयों के प्रयोग से सम्बन्धित है। कार्य सूची के



मुताबिक साल 1955 में अकेले सरकारी पुस्तकालयों में पढ़ने वाले व्यक्तियों की संख्या 3,97,36,000 थी। हमने ऊपर देखा है कि 1954 में सोवियत संघ में मौजूद कुल पुस्तकालयों में से सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 40% से कम थी। बाक़ी अन्य प्रकार के पुस्तकालय थे (जो निजी नहीं, बल्कि ये भी सरकारी ही थे बस इनका कंट्रोल सीधे सरकार की बजाय सम्बन्धित संस्थाएँ करती थीं)। सोवियत संघ की आबादी साल 1959 की जनगणना के मुताबिक 20 करोड़ के लगभग थी। सो, कुल पुस्तकालयों का 40% से कम होते हुए भी इन पुस्तकालयों में पाठकों की संख्या तक़रीबन 4 करोड़ के नज़दीक थी। बाक़ी पुस्तकालयों के पाठकों की संख्या मिला ली जाये तो हमें जिज्ञासु सोवियत मानसों की मनोवृत्ति का अन्दाज़ा हो जाता है कि सोवियत लोग पढ़ने-लिखने को कितना अहमियत देते थे।

इन आँकड़ों को अब थोड़ा भारत की स्थिति के साथ तुलना करके देखते हैं। भारत में सरकारी तौर पर तो पुस्तकालयों की कुल संख्या और उनमें से सरकारी पुस्तकालयों की संख्या का कोई आधिकारिक रिकार्ड ही नहीं है (यह भी सरकार की इस मामले में गैर-संजीदगी को ही दिखता है) लेकिन अलग-अलग स्रोत इसकी संख्या 50,000 से

70,000 सरकारी पुस्तकालय बताते हैं। इन पुस्तकालयों के भीतरी हालात क्या हैं, इनके रजिस्ट्रों/कार्य-सूचियों के मुताबिक यहाँ पढ़ने आने वाले कितने लोग हैं, त्रासदी ही यह है कि यह सब आँकड़े हमें भारत के बारे में नहीं मिलते। लेकिन यदि हम भारत में कुल सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 70,000 भी मानें तो भी सोवियत संघ से (1959 की जनगणना के मुताबिक) 6 गुना ज्यादा आबादी होने के बावजूद भी भारत में सरकारी पुस्तकालयों की संख्या वहाँ के मुकाबले (सोवियत संघ के 1955 के आँकड़े मुताबिक) आधी ही है। भारत में इन पुस्तकालयों की बाँट भी बहुत असमान है - जैसे कि भारत में 20 करोड़ की आबादी वाले राज्य यूपी में कुल 75 सरकारी पुस्तकालय ही हैं जबकि 7 करोड़ से कम आबादी वाले तमिलनाडु में सरकारी पुस्तकालयों की संख्या 4,000 से ऊपर है। इसी तरह सरकारी खर्च के हिसाब से भी देखें तो यूपी में सरकार पुस्तकालयों पर सिर्फ 22 करोड़ खर्चती है, उसमें से भी 20 करोड़ सिर्फ तनख्वाहें और रख-रखाव पर जाता है जबकि नयी किताबों के लिए सिर्फ 2 करोड़ ही बचता है। इसी तरह भारत के दक्षिणी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में पुस्तकालयों का घनत्व ज्यादा है। राष्ट्रीय पुस्तकालय मिशन के सलाहकार के.के. बैनर्जी की रिपोर्ट के मुताबिक उत्तरी भारत में पुस्तकालयों की संख्या काफ़ी कम है। मिसाल के तौर पर पंजाब में कुल 580 पुस्तकालय बताये जाते हैं, जबकि आबादी के लिहाज़ से कहीं छोटे राज्य नागालैण्ड में इसकी अपेक्षा ज्यादा पुस्तकालय हैं। इसी तरह, दिल्ली और इसके साथ के इलाकों की आबादी करोड़ों में है लेकिन यहाँ सिर्फ 229 पुस्तकालय हैं। उत्तरी भारत के अन्य राज्यों की हालत तो और भी ख़राब है। आबादी के लिहाज़ से तक़रीबन पंजाब के बराबर पड़ते हरियाणा में सिर्फ 50 पुस्तकालय हैं, जम्मू-कश्मीर में भी 60 पुस्तकालय ही हैं। भारत में सरकारों की यह बेरुखी इसी तथ्य से ही जाहिर हो जाती है कि भारत में सरकार सरकारी पुस्तकालयों पर प्रति व्यक्ति सिर्फ 7 पैसे ही खर्च कर रही है! (स्रोत - के.के. बैनर्जी की ही रिपोर्ट)। इस सरकारी बेरुखी के चलते ही पंजाब में भी पुस्तकालयों का ढाँचा खस्ता ही है। यदि पंजाब की शैक्षिक संस्थाओं के पुस्तकालयों की बात करें तो इस समय पंजाब के 48 सरकारी कॉलेजों और 14 जिला पुस्तकालयों में पचास लाख से अधिक किताबें पड़ी हैं। इन सरकारी कॉलेजों और जिला पुस्तकालयों और पंजाब के एक केन्द्रीय पुस्तकालय में कुल 96 नियुक्तियाँ हैं जिनमें से 74 इस समय खाली पड़ी हैं और सिर्फ 22 के साथ काम चलाया जा रहा है!

ऊपर दिये गये सभी आँकड़ों का सार क्या है? क्यों एक ऐसा देश जहाँ क्रान्ति से पहले हालत भारत जैसी ही थी, जहाँ 60% से ज्यादा लोग अनपढ़

थे वह सिर्फ 36 सालों में सांस्कृतिक लिहाज़ से (इस मामले में खास किताबों की संस्कृति) इतना आगे निकल जाता है कि भारत अपने 70 सालों के 'आज़ादी' के सफ़र के बाद भी उसके आगे बेहद बौना नज़र आता है? और यह सब वह क्रान्ति-पश्चात चले तीन वर्षों के गृह-युद्ध को सहते हुए, सत्ता से उतारे शोषक वर्गों की ओर से पैदा की जा रही अन्दरूनी गड़बड़ियों के चलते और नाज़ी फ़ासीवादियों के खिलाफ़ चले महान युद्ध का नुक़सान उठाते हुए हासिल किया जिस युद्ध में कि सोवियत संघ की आर्थिकता का बड़ा हिस्सा तबाह और बरबाद हो गया था, 2 करोड़ से ज्यादा नौजवानों को लामिसाली कुर्बानियाँ देनी पड़ी थीं। लेकिन फिर भी सोवियत संघ ने यह सब हासिल किया। कैसे? क्योंकि उस वक़्त के सोवियत संघ और भारत में एक बुनियादी फ़र्क था और वह है कि सोवियत संघ समाजवादी रास्ते पर आगे बढ़ा (स्तालिन की मृत्यु तक) और भारत अब तक पूँजीवादी रास्ते पर चलता आया है। समाजवाद में मुख्य मक़सद ही लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के साथ-साथ उनके सौन्दर्यात्मक जीवन को भी ऊँचा उठाना होता है जबकि पूँजीवादी प्रबन्ध में प्राप्ति एक बेहद सीमित वर्ग, पूँजीपति वर्ग की ही होती है। समाजवाद में लोगों को रोज़गार की चिन्ता न होने के कारण और हर एक को काम मिलने के चलते वहाँ न तो फ़ालतू का तनाव होता है और न ही ओवरटाइम लगा घर चलाने का फ़िक्र। बल्कि लोगों के पास अतिरिक्त समय होता है सांस्कृतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने का जबकि पूँजीवादी प्रबन्ध में ग़रीबी, बेरोज़गारी, ओवरटाइम की तलवार हर समय सिर पर लटकी रहती है और मजदूरों के पास इतना वक़्त ही नहीं होता कि पढ़ने-लिखने की रुचियाँ विकसित कर सकें और जिनके पास थोड़ा वक़्त हो भी तो सरकार उन तक भी ज्ञान नहीं पहुँचाना चाहती क्योंकि यदि आम मजदूर पढ़ेंगे -लिखेंगे, अपने इतिहास के बारे में, अपनी भाषा के बारे में, दूसरे देशों के इतिहास और वहाँ के लोगों के संघर्षों के बारे में जानेंगे तो भारतीय शासकों के लिए समस्या खड़ी हो जायेगी। उनकी सत्ता के लिए खतरा पैदा हो जायेगा। इसीलिए भारतीय शासक कभी नहीं चाहते कि उनकी सत्ता डोले, इसीलिए वह भारतीय लोगों को नासमझी में ही रखना चाहते हैं जिससे अपनी लूट को चलता रख सकें। जनपक्षीय ताक़तों को, क्रान्तिकारी ताक़तों को सरकारों की इस सोच को सरेआम नंगा करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो सके वैकल्पिक मीडिया का, पुस्तकालयों का मॉडल खड़ा करना चाहिए जिससे मजदूरों में अच्छे साहित्य के प्रति उत्साह पैदा किया जा सके और उनको ग़लत रास्ते पर चलने से, शासकों के झूठे प्रचार से भ्रमित होने से बचाया जा सके।

बढ़ते जन असन्तोष से तिलमिलाये भगवाधारी

विकास का मुखौटा धूल में, नफ़रत से सराबोर खूनी चेहरा सबके सामने

(पेज 1 से आगे)

प्रतिशत असुरक्षित रोज़गार की श्रेणी में आ जायेगा। गौरतलब है कि इस रिपोर्ट में बेरोज़गारों और तथाकथित स्वरोज़गार में लगी करोड़ों की आबादी नहीं शामिल है। इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में पसरी मन्दी के काले बादल छूटने की सम्भावना दूर-दूर तक नहीं दिखायी दे रही है। विकास की गर्जना अब शान्त हो चुकी है और साम्प्रदायिक विद्वेष व अन्धराष्ट्रवाद का उन्मादी शोरगुल देश-भर में फैल रहा है।

जहाँ एक ओर नरेन्द्र मोदी विकास की दहाड़ पर लगाम लगाकर अपने फिसड्डीपन का ठीकरा अतीत की सरकारों पर मढ़ने में मशगूल हैं, वहीं दूसरी ओर उनके संघी कुटुम्ब के उपद्रवी बिरादर सड़कों पर आतंक से लेकर टीवी स्टूडियो और सोशल मीडिया, व्हाट्सएप जैसे माध्यमों से अल्पसंख्यकों, दलितों और स्त्रियों के विरुद्ध निकृष्टतम स्तर के घृणित विचारों का विषवमन करते दिख रहे हैं। आतंक और नफ़रत के इस माहौल की गवाही खुद गृह मन्त्रालय के आँकड़े ही दे रहे हैं। लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गृह राज्य मन्त्री हंसराज अहिर ने बताया कि अकेले वर्ष 2017 में देश में कुल 822 साम्प्रदायिक वारदातें हुईं जिनमें 111 लोग मारे गये और 2384 लोग ज़ख्मी हुए। वर्ष 2016 में साम्प्रदायिक हिंसा की 703 घटनाएँ घटी थीं जिनमें 86 लोग मारे गये थे और 2321 लोग घायल हुए थे

जबकि 2015 में साम्प्रदायिक वारदातों की संख्या 751 थी, जिनमें 97 लोग मारे गये और 2264 लोग घायल हुए थे। वर्ष 2017 में उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक 195 साम्प्रदायिक वारदातें हुईं जिनमें 44 लोग मारे गये और 542 लोग घायल हुए। उत्तर प्रदेश इस समय योगी ब्राण्ड हिन्दुत्व की प्रयोगशाला बना हुआ है। इस प्रयोगशाला में इस साल का पहला प्रयोग हिन्दुत्ववादी उपद्रवियों ने कासगंज में गणतन्त्र दिवस पर अपने चिर-परिचित अन्दाज़ में तिरंगा यात्रा की आड़ में मुस्लिम आबादी को उकसाने की धिनौनी करतूत के रूप में किया जिससे उपजी साम्प्रदायिक हिंसा में चन्दन गुप्ता नामक एक शख्स की मौत हो गयी जिसके बाद पूरे कस्बे में मुसलमानों की दुकानों और घरों को चुन-चुनकर जलाया गया। संघी दंगाइयों को अच्छी तरह से पता है कि उनकी उकसावेबाजी से इस्लामिक कट्टरपन्थी ताकतों की मज़हबी ठेकेदारी भी चल निकलती है जिसका लाभ अन्ततः हिन्दुत्ववादियों को ही होता है। कासगंज के अलावा इसका एक नमूना दिल्ली के रघुबीर नगर में अंकित सक्सेना नामक युवक की 'ऑनर किलिंग' के रूप में सामने आया जिसकी मुस्लिम प्रेमिका के परिजनों ने निर्मम हत्या कर दी। हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के कट्टरपन्थी ठेकेदार ऊपरी तौर पर एक-दूसरे के खिलाफ़ कितनी भी गर्मागर्म बातें करें, असलियत तो यह है कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। एक की राजनीति चमकती

है तो दूसरे की भी बाँछें खिल जाती हैं क्योंकि उसको भी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने के लिए आग मिल जाती है।

सड़कों पर आतंक के अतिरिक्त भगवा फ्रासिस्टों के प्रवक्ताओं ने टीवी स्टूडियो में ज़हरीले बयान देकर देश के साम्प्रदायिक परिवेश को प्रदूषित करने की धिनौनी रणनीति के अमल में तेज़ी ला दी है। राकेश सिन्हा, विनय कटियार, ज्ञानदेव आहूजा जैसे संघी बड़बोलों ने हाल के दिनों में अल्पसंख्यकों के खिलाफ़ खुली धमकी भरे ज़हरीले बयान दिये हैं जिनका मक़सद समाज में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण में तेज़ी लाना है ताकि रोज़ी-रोटी के ज्वलन्त मुद्दे दब जायें। इसके अलावा राम मन्दिर की आग को एक बार फिर भड़काने के लिए संघ परिवार के अनुषंगिक संगठन एक रामराज्य रथ यात्रा चला रहे हैं जो साम्प्रदायिक धुँआ छोड़ती हुई 6 राज्यों से होकर गुज़रेगी। साम्प्रदायिक नफ़रत के अलावा जातिगत तनाव बढ़ने के संकेत भी साफ़ नज़र आ रहे हैं जिसका नतीजा भीमा कोरेगाँव की घटना और हाल ही में इलाहाबाद में एक दलित युवक की बर्बर हत्या के रूप में सामने आया। पद्मावत फ़िल्म पर प्रतिबन्ध लगाने के पीछे की राजनीति भी जातिगत दरारों को चौड़ा करने की घृणित कोशिशों का ही विस्तार थी। निक्करधारियों द्वारा महिलाओं के खिलाफ़ विषवमन और वैलेण्टाइन्स डे के विरोध के नाम पर प्रेम की आज़ादी पर हमले को भी समाज में दक्रियानूसी मानसिकता को बढ़ावा देकर अपने

वोटबैंक को सुदृढ़ करने की कोशिशों की निरन्तरता में ही देखा जाना चाहिए।

पूरे समाज को साम्प्रदायिक नफ़रत की आग में झोंकने के अतिरिक्त फ्रासिस्टों की दूसरी रणनीति अन्धराष्ट्रवाद की हवा चलाने की है। पाकिस्तान और कश्मीर के मसले इन दोनों रणनीतियों के बीच सेतु का काम करते हैं। हाल ही में दक्षिण कश्मीर के शोपियाँ में आर्मी जवानों की फ़ायरिंग में तीन नागरिकों की मौत को जायज़ ठहराने और गढ़वाल राइफ़ल्स के मेजर आदित्य कुमार पर की गयी एफ़आईआर को रद्द करवाने के लिए एक मुहिम चलायी गयी। मामले को सर्वोच्च न्यायालय ले जाया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने भी भारतीय राज्य के प्रति पक्षधरता दिखाते हुए एफ़आईआर पर स्टे लगा दिया। इसके अलावा हाल में जम्मू और कश्मीर में सीआरपीएफ़ कैम्पों पर हुए आतंकी हमलों के लिए रोहिंया मुसलमानों को जिम्मेदार ठहराते हुए संघ परिवार के लगभग-भगुओं ने रोहिंया मुसलमानों को भारत से खदेड़ने के लिए शुरु की गयी मुहिम तेज़ कर दी है। हाल में जम्मू में सुजवान स्थित आर्मी कैम्प पर हमले के बाद भाजपा नेता कविन्दर गुप्ता के नेतृत्व में निक्करधारियों ने जम्मू में रोहिंया मुसलमानों के शरणार्थी शिविरों के आसपास तनाव का माहौल बनाया जिससे संघ परिवार की रणनीति की झलक मिलती है।

उपरोक्त घटनाक्रमों से स्पष्ट है कि कर्नाटक, राजस्थान और मध्य प्रदेश

जैसे महत्वपूर्ण राज्यों में आगामी विधानसभा चुनावों में अपना जनाधार सुदृढ़ करने और आगामी लोकसभा चुनावों से पहले वर्तमान सरकार के खिलाफ़ बढ़ते जन असन्तोष की दिशा मोड़ने के लिए हिन्दुत्ववादी फ्रासिस्ट किसी भी हद तक गुज़र सकते हैं। सत्ता हाथ से खोने के भय से वे और भी अधिक आक्रामक मुद्रा में आकर किसी बड़े षड्यन्त्र को अंजाम देने से भी नहीं चूकेंगे। ऐसे में उनकी धिनौनी साज़िशों का पर्दाफ़ाश करना पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरी हो जाता है। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। साम्प्रदायिक नफ़रत और अन्धराष्ट्रवाद की आग में देश को झोंकने की हिन्दुत्ववादी साज़िशों को रचनात्मक तरीक़े से जनता के सामने उजागर करने के अलावा आज सकारात्मक तौर पर रोज़गार, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के आधार पर आन्दोलन संगठित करने की सख्त ज़रूरत है। इस प्रक्रिया में जनता वर्तमान पूँजीवादी ढाँचे के सीमान्तों को भी समझ सकेगी और इस ढाँचे को आमूलचूल तौर पर बदलकर बराबरी, आज़ादी और इंसाफ़ पर आधारित नये सामाजिक ढाँचे की नींव तैयार करने की प्रक्रिया भी तेज़ होगी। यानी फ़्रासीवाद-विरोधी आन्दोलन को चुनावी गठबन्धन तक सीमित करने की बजाय उसे पूँजीवाद-विरोधी व्यापक आन्दोलन से जोड़ना बेहद ज़रूरी है।

हथियारों का जनद्रोही कारोबार और राफ़ेल विमान घोटाला

अमित

लॉकहीड मार्टिन, बोइंग, रेथीओन, बीएई सिस्टम, नार्थरोप ग्रुमैन हो सकता है कि आपमें से बहुत से लोगों ने ये नाम पहले कभी न सुने हों। ये नाम आज के समय में दुनिया की 5 सबसे बड़ी हथियार बनाने वाली कम्पनियों के हैं। इन 5 में से 4 कम्पनियाँ अमेरिका की हैं। इनमें से बीएई सिस्टम एक ब्रिटिश कम्पनी है। दुनिया भर में लगातार फैलते हुए हथियारों के बाज़ार का 60% हिस्सा अमेरिकी कम्पनियों के कब्ज़े में है। अभी हाल ही में भारत की फ़्रांस के साथ राफ़ेल विमानों की ख़रीद को लेकर बहुत हो-हल्ला मचा। जो कम्पनी राफ़ेल विमान बनाती है, उसका नाम है – दसॉल्ट एविएशन। रक्षा सौदों को लेकर पहले भी बहुत से मामले उठाये जाते रहे हैं। आगस्ट वेस्टलैण्ड का मामला अभी भी बहुत पुराना नहीं हुआ है। आज़ादी आने के बाद से ही कभी जीप घोटाले से लेकर बोफ़ोर्स घोटाले तक... अगर गिना जाये तो देशहित में किये गये इन घोटालों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है। 'राष्ट्रवादी' भाजपा ने भी पिछली बार सत्ता में आने पर ही ताबूत

घोटाला करके अपने देशभक्त होने का सबूत पेश कर दिया था। ऐसे में राफ़ेल विमान की ख़रीद में घोटाले का मामला कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

लेकिन सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि राफ़ेल के बाद मचे इस शोर-शराबे के पीछे की कहानी क्या है? यूपीए सरकार के समय में फ़्रांसीसी कम्पनी दसॉल्ट ने सबसे कम क्रीमत की बोली लगाकर यूरोफ़ाइटर को हराकर भारत को लड़ाकू विमान सप्लाई करने का अधिकार हासिल किया था। 2012 से ही विमान के ख़रीद की प्रक्रिया की शुरुआत कर दी गयी थी। उस दौरान भारत सरकार और दसॉल्ट एविएशन के बीच यह समझौता हुआ था कि 530 करोड़ रुपये प्रति विमान की दर से भारत सरकार दसॉल्ट से 18 लड़ाकू विमान ख़रीदेगी और 108 विमानों को भारत सरकार की कम्पनी हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड तकनीक प्राप्त करके बनायेगी। बाद में फ़्रांस दौरे पर नरेन्द्र मोदी ने इस डील को रद्द करने की घोषणा की और लगभग 1600 करोड़ रुपये प्रति विमान की दर से दसॉल्ट एविएशन से 36 विमान ख़रीदने

का फ़ैसला लिया। बिज़नेस स्टेण्डर्ड ने यह अनुमान लगाया है कि तत्कालीन रक्षा मन्त्री मनोहर पर्रीकर के बयान से यह जाहिर हो रहा है कि यह फ़ैसला लेने में उचित कमेटियों से राय नहीं ली गयी। लेकिन सोचने की बात है कि जब इस पूँजीवादी मशीनरी का हर हिस्सा मेहनतकश वर्ग के हितों के खिलाफ़ जाकर पूँजीपतियों की तिजोरी भरने के ही काम आता है, तो इस व्यवस्था की सेवा करने वाली इस या उस कमेटी से सलाह ले लेने से भी बस यह होता कि लूट को एक क़ानूनी जामा पहना दिया जाता। पिछली डील को रद्द करने के बाद जब नये सिरे से विमान ख़रीद की सौदेबाज़ी शुरू हुई तो इसमें और अन्य कम्पनियों को आमन्त्रित करके कम क्रीमत पर बेहतर विमान ख़रीदने की बजाय सिर्फ़ दसॉल्ट के साथ ही सौदेबाज़ी कर ली गयी। इतना ही नहीं, भारत सरकार की कम्पनी हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड इस नयी डील से गायब हो चुकी है। जबकि इस डील के पीछे का एक मक़सद हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड को तकनीक हस्तान्तरित करके इस क्षेत्र में आत्म

निर्भर बनना भी था।

इस फ़ैसले के पीछे मोदी सरकार का यह तर्क है कि विमानों को अपग्रेड किया गया है। लेकिन असल बात कुछ और ही है। दरअसल पिछली डील रद्द करने के दो हफ़्ते बाद ही दसॉल्ट एविएशन और रिलायंस के बीच का एक जॉइंट वेंचर बना लिया गया जो डील करने वाली मुख्य कम्पनी है। इसके बाद दसॉल्ट एविएशन ने हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड द्वारा बनाये जाने वाले 108 विमानों की गारण्टी लेने से भी इनकार कर दिया। केन्द्र में बैठी भाजपा सरकार गोपनीयता का हवाला देकर इस पूरे मसले को देशहित से जोड़ रही है। समझा जा सकता है कि अपने आकाओं के हित साधने का काम किया जा रहा है और नाम दिया जा रहा है देशहित का। वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था में चुनावी पार्टियाँ जब भी देशहित की बात करें, तो सही मायने में वह अम्बानी, अडानी जैसे लोगों के हितों की ही बात कर रही होती हैं।

स्टाकहोम इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टिट्यूट नाम की एक संस्था के अध्ययन के मुताबिक़ आज भारत

दुनिया में हथियारों का सबसे बड़ा ख़रीदार देश है। दुनिया के सबसे ज़्यादा सैन्य ख़र्च वाले देशों में भारत का स्थान पाँचवाँ है। जबकि शिक्षा पर ख़र्च के मामले में यह बांग्लादेश और नेपाल जैसे देशों से टक्कर ले रहा है। इस बार के बजट में भी पिछली बार की तरह कुल बजट का 12% हिस्सा देश की रक्षा के लिए कुर्बान किया गया है। दूसरी ओर शिक्षा के बजट को कुल बजट के 3.7% से घटाकर 3.5% कर दिया गया। आज दुनिया में हथियारों का कुल बाज़ार 375 बिलियन डॉलर का पहुँच गया है, जो कि दक्षिण अफ़्रीका जैसे देश की कुल जीडीपी से भी ज़्यादा है। दुनिया भर में सेनाओं पर एक दिन होने वाला ख़र्च लगभग 1600 बिलियन डॉलर है, जो कि भारत द्वारा एक साल में शिक्षा और चिकित्सा पर किये जाने वाले कुल ख़र्च का लगभग 75 गुना है। संयुक्त राष्ट्र के एक अनुमान के मुताबिक़ 30 बिलियन डॉलर के निवेश से दुनिया से भुखमरी का खात्मा किया जा सकता है। दुनिया में इस समय लगभग 1 अरब लोग प्रतिदिन भूखे सोते हैं, जबकि भारत में

(पेज 2 पर जारी)

बेरोज़गारी क्यों पैदा होती है और इसके विरुद्ध संघर्ष की दिशा क्या हो

— सत्यम

भारत में बेरोज़गारी तेजी से बढ़ रही है। करोड़ों मजदूर और पढ़े-लिखे नौजवान, जो शरीर और मन से दुरुस्त हैं और काम करने के लिए तैयार हैं, उन्हें काम के अवसर से वंचित कर दिया गया है और मरने, भीख माँगने या अपराधी बन जाने के लिए सड़कों पर धकेल दिया गया है। आर्थिक संकट के गहराने के साथ हर दिन बेरोज़गारों की तादाद में बढ़ोत्तरी होती जा रही है। बहुत बड़ी आबादी ऐसे लोगों की है जिन्हें बेरोज़गारी के आँकड़ों में गिना ही नहीं जाता लेकिन वास्तव में उनके पास साल में कुछ दिन ही रोज़गार रहता है या फिर कई तरह के छोटे-मोटे काम करके भी वे मुश्किल से जीने लायक कमा पाते हैं। हमारे देश में काम करने वालों की कमी नहीं है, प्राकृतिक संसाधनों की कोई कमी नहीं है, जीवन के हर क्षेत्र में बुनियादी सुविधाओं के विकास और रोज़गार के अवसर पैदा करने की अनन्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं, फिर भी इस क्रूर बेरोज़गारी क्यों मौजूद है?

क्यों है इतनी बेरोज़गारी

बेहिसाब तकलीफ़ें, बदहाली और मौत लेकर आने वाली इस भयंकर समस्या से मजदूर वर्ग कैसे लड़ सकता है? इस सवाल के जवाब से पहले यह ज़रूरी है कि समस्या को अच्छी तरह समझ लिया जाये, और उन शक्तियों को जान लिया जाये जो यह संकट पैदा करती हैं।

बेरोज़गारी पूँजीवादी समाज की एक "सामान्य" घटना है। इसके कारणों को समझने के लिए पहले इस तथ्य को जान लेना ज़रूरी है। ऐसे मजदूरों की एक तादाद हमेशा मौजूद रहती है जिनके पास जीने के लिए अपनी श्रमशक्ति बेचने के अलावा और कोई साधन नहीं होता, मगर उन्हें अपनी श्रमशक्ति का कोई खरीदार नहीं मिलता, उन्हें कोई काम नहीं मिलता, वे "बेरोज़गार" होते हैं। ये मजदूर खाली पड़ी श्रमशक्ति के भंडार में शामिल हो जाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था मजदूरों के शोषण के एक तरीके के रूप में इस "औद्योगिक रिज़र्व सेना" को खड़ी करती है।

"औद्योगिक रिज़र्व सेना" पूँजीवादी व्यवस्था का बिल्कुल "सामान्य" हिस्सा होती है। यह पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया की शुरुआत से ही मौजूद रहती है और पूँजीवाद के एक अनिवार्य अंग के रूप में निरन्तर बनी रहती है। इस "सेना" में शामिल अलग-अलग मजदूर बदलते रहते हैं, कुछ मजदूरों को कुछ समय के लिए काम मिलता है और वे इससे बाहर होते हैं तो दूसरे मजदूर इसमें शामिल हो जाते हैं, लेकिन यह सेना लगातार मौजूद रहती है। इस रूप में बेरोज़गारी हर समय मौजूद रहती है, मजदूर वर्ग पर दबाव बनाये रखती है, बेहतर मजदूरी और हालात की माँग करने वाले मजदूरों के विरुद्ध लगातार बनी रहने वाली धमकी का काम करती

है, और हड़ताल या आन्दोलनों के समय हड़ताल तोड़ने के लिए सस्ते मजदूरों की सप्लाई का स्रोत बन जाती है। किसी भी औद्योगिक इलाके में जाकर देखें तो कारखानों के गेट पर 'वर्कर चाहिए' की तख्ती लटकती दिख जायेगी। रोज़ सुबह गेट पर मजदूरों की भीड़ इकट्ठा होती है जिसमें से ठेकेदार या मैनेजर कम से कम पर काम कराने के लिए कुछ लोगों को चुनकर बाकी को वापस भेज देते हैं। शहरों में 'लेबर चौक' पर मजदूरों की मण्डियाँ लगती हैं जिसमें खड़े होने वाले मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है, और काम न मिलने पर निराश वापस जाने वालों की भी तादाद पहले से बहुत ज़्यादा है। बढ़ती बेरोज़गारी का आलम यह है कि इन मजदूर मण्डियों में अच्छी-खासी डिग्रियाँ लिये हुए नौजवान भी खड़े मिल जाते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था में बार-बार आने वाले आर्थिक संकटों के दौर में बेरोज़गारों की रिज़र्व सेना में भारी बढ़ोत्तरी होती है। कारखानों, मिलों, खदानों के बन्द होने, निर्माण की गतिविधियों में ठहराव आने, व्यापार मन्दा पड़ने के साथ ही बड़े पैमाने पर मजदूरों-कर्मचारियों को अपने रोज़गार से हाथ धोना पड़ता है। पूँजीवाद लगातार समृद्धि-अतिउत्पादन-संकट-पुनःसमायोजन-समृद्धि के चक्र से होकर गुजरता है। संकट के दौरों में मजदूरों पर बेरोज़गारी की मार और भी बुरी तरह पड़ती है। दुनियाभर के अर्थशास्त्री यह बता चुके हैं कि पूँजीवाद अब जिस मंज़िल में है, वहाँ संकट और मन्दी अब एक स्थायी चीज़ बन चुके हैं। बीच-बीच में संकट अति गम्भीर रूप धारण कर लेता है, लेकिन संकट से उबरकर समृद्धि और उछाल के दौर अब नहीं आते। इसी का नतीजा है कि बेरोज़गारी अब लगातार एक भीषण संकट के रूप में बनी हुई है और बीच-बीच में इससे राहत के कुछ दौर भी नहीं आने वाले। बल्कि यह संकट बीच-बीच में विस्फोटक स्थिति अख्तियार करता रहेगा, जैसाकि इस समय दिख रहा है।

पूँजीवाद का सामान्य चक्र और बेरोज़गारी

उत्पादन के साधनों से वंचित मजदूरों की विशाल आबादी और मुट्ठीभर पूँजीपतियों के हाथों में उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण पूँजीवादी व्यवस्था का आधार होता है। पूँजीपति अपने कारखाने में उत्पादन कराने के लिए मजदूर की श्रम शक्ति आठ या दस घण्टे के लिए खरीदता है। मजदूर को मिलने वाले श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर उत्पादन तो मजदूर दो या तीन घण्टे में ही कर देता है, शेष मूल्य जो वह पैदा करता है उसमें से कच्चे माल की कीमत, मरम्मत-मेन्टेनेंस आदि का खर्च निकालने के बाद बची रकम पूँजीपति का मुनाफ़ा होता है जिसका निवेश करके वह नये कारखाने

खोलता है, नयी मशीनें लाता है। अपनी श्रमशक्ति के मूल्य से ऊपर मजदूर जो भी पैदा करता है, जिसे पूँजीपति हड़प लेता है, उसको 'अतिरिक्त मूल्य' कहते हैं। इस अतिरिक्त मूल्य के एक हिस्से को पूँजीपति अपने अय्याशी भरे जीवन पर खर्च करता है, और बाकी को पूँजी में बदलकर उससे अपने कारोबार को और बढ़ाता है। इसे 'पूँजी संचय' कहते हैं। मजदूर जो पैदा करता है, उस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। पूँजीपति उसे उतना ही देता है जितने में वह ज़िन्दा रहकर, न्यूनतम ज़रूरतें पूरी करके काम करता रह सके, और मजदूरों की नयी पीढ़ियाँ पैदा करता रह सके। पूँजीवादमें उत्पादन सामाजिक उपभोग के हिसाब से नहीं बल्कि मुनाफ़े के हिसाब से होता है। पूँजीपति कई होते हैं। उनके बीच मुनाफ़े के लिए गलाकाटू होड़ चलती रहती है। बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को बाज़ार से उजाड़ने और हड़पने में लगातार लगी रहती है। मुनाफ़ा बढ़ाने की होड़ में पूँजीपति मजदूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तरकीबें निकालते हैं। मुनाफ़े की रफ़्तार बढ़ाने के लिए पूँजीपति फिर उन्नत मशीनें और नयी तकनीकें लाते हैं, कम मजदूरों से ज़्यादा काम कराता है, बाकी मजदूरों को निकाल देता है। मजदूरों की बेरोज़गारी बढ़ने से उनकी मोल-तोल की ताकत घट जाती है और वे पहले से भी कम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

पूँजी संचय से हर हाल में मजदूरों की बेरोज़गारी पैदा होती है। पूँजी के जिस हिस्से को उत्पादन के साधन खरीदने के लिए इस्तेमाल किया जाता है उसे 'स्थिर पूँजी' कहते हैं और पूँजी के जिस हिस्से से मजदूर की श्रमशक्ति खरीदी जाती है उसे 'परिवर्तनशील पूँजी' कहते हैं। पूँजीपति लगातार परिवर्तनशील पूँजी को कम करके अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की कोशिश करता है। स्थिर पूँजी की तुलना में परिवर्तनशील पूँजी को कम करने का नतीजा होता है मशीनों द्वारा मजदूरों को धकिया कर बाहर कर देना।

पूँजी संचय की प्रक्रिया पूँजी की कुल मात्रा बढ़ाने की प्रक्रिया भर नहीं है। इस प्रक्रिया में पूँजी के अवयवी संघटन (यानी स्थिर और परिवर्तनशील पूँजी के अनुपात) में भी बदलाव होता है और इसका मजदूर वर्ग पर बुरा प्रभाव पड़ता है। पूँजी का संघटन उत्पादन के साधनों (कारखाना, मशीनें, उपकरण, कच्चा माल आदि) और श्रमशक्ति के अनुपात के रूप में दिखायी देता है। खरीदे गये उत्पादन के साधनों और काम पर लगाये गये मजदूरों की संख्या के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए, किसी कॉटन मिल में एक मजदूर एक दिन में एक निश्चित मात्रा में रूई का इस्तेमाल करते हुए तकलियों की एक निश्चित संख्या ही संभाल सकता है। इस अनुपात का स्तर समाज में उत्पादन के तकनीकी स्तर, विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों की विशेषताओं

और मशीनीकरण की मात्रा पर निर्भर करता है। पूँजीवाद के विकास के दौर में पूँजी का अवयवी संघटन स्थिर नहीं रहता है। और अधिक अतिरिक्त मूल्य निचोड़ने तथा प्रतियोगिता में आगे बढ़ने के लिए पूँजीपति को हाथ से किये जाने वाले काम के लिए मशीनें लगाकर या पुरानी मशीनों की जगह नयी मशीनें लगाकर अपने कारखाने का तकनीकी स्तर बढ़ाना होता है। इसके लिए, पूँजीपति मशीन उपकरणों में पूँजी निवेश बढ़ाता है। नयी मशीनें लगाये जाने से मजदूर एक निश्चित समय में ज़्यादा कच्चे माल का इस्तेमाल करके ज़्यादा उत्पादन कर सकता है, लेकिन पूँजीपति को उतनी ही मजदूरी देनी पड़ती है। पूँजीपति को और कच्चा माल खरीदने के लिए अपनी पूँजी बढ़ानी पड़ेगी। इस तरह निरन्तर पूँजी संचय के साथ कुल पूँजी में स्थिर पूँजी का अनुपात लगातार बढ़ता रहता है जबकि परिवर्तनशील पूँजी (जिससे मजदूर की श्रमशक्ति खरीदी जाती है) का अनुपात लगातार घटता जाता है।

इस स्थिति के मजदूर वर्ग के लिए गम्भीर दुष्परिणाम सामने आते हैं। यदि पूँजी का अवयवी संघटन स्थिर रहे तो पूँजी संचय के साथ-साथ श्रमशक्ति की माँग बढ़ती है। यानी मजदूर के लिए रोज़गार के अवसर बढ़ते हैं। पर पूँजी का अवयवी संघटन बढ़ जाने (यानी उसमें स्थिर पूँजी का हिस्सा बढ़ जाने) के बाद पूँजी संचय का परिणाम वही नहीं रह जाता है। इससे श्रमशक्ति की कुल माँग में वृद्धि हो सकती है, पर यह वृद्धि स्थिर पूँजी में वृद्धि के मुक़ाबले काफ़ी कम होगी। कुछ परिस्थितियों में श्रमशक्ति की कुल माँग पहले से कम भी हो जा सकती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि श्रमशक्ति की माँग कुल पूँजी की मात्रा पर नहीं बल्कि परिवर्तनशील पूँजी की मात्रा पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, यदि पूँजी का अवयवी संघटन 4: 1 है तो इसका मतलब यह हुआ कि कुल पूँजी के हर 1000 रुपये में से 200 रुपये मजदूरों पर खर्च किये जा सकते हैं। लेकिन यदि पूँजी का अवयवी संघटन बढ़कर 9: 1 हो जाये तो हर 1000 रुपये में से सिर्फ़ 100 रुपये ही मजदूरों के लिए उपलब्ध होंगे। इस तरह यदि कुल पूँजी 1,00,000 से बढ़कर 1,50,000 रुपये भी हो जाये, तो भी परिवर्तनशील पूँजी का हिस्सा 20,000 से घटकर 15,000 रुपये हो जायेगा। इससे पता चलता है कि पूँजी के अवयवी संघटन में वृद्धि मजदूरों के लिए रोज़गार के अवसर कम कर देती है। पूँजीवादी समाज में, मजदूर वर्ग मशीनें बनाता है। पर जब ये मशीनें पूँजीपति द्वारा इस्तेमाल की जाती हैं तो बड़ी संख्या में मजदूर बेरोज़गार हो जाते हैं। पूँजीपति द्वारा आधुनिक सिलाई मशीनें अपनाये जाने से बहुत से सिलाई मजदूर बेरोज़गार हो गये। पैकिंग मशीनें अपनाये जाने से बहुत से पैकिंग मजदूर सड़क पर आ गये। कंप्यूटरों ने बहुत से लोगों को

बेरोज़गार कर दिया। पहले जिन कामों में 5 या 10 मजदूर लगते थे, आधुनिक कारखानों में अब वही काम एक मजदूर अकेले करता है। पूँजीवाद की विकास प्रक्रिया के दौरान तकनीकों में सुधार और पूँजी के अवयवी संघटन में वृद्धि के साथ-साथ मजदूरों के लिए रोज़गार के अवसर कम होते जाते हैं और बेरोज़गारी बढ़ती है। इसको मशीनों द्वारा मजदूरों का निष्कासन कहते हैं। इसी का नतीजा है कि "विकास" तो होता रहता है लेकिन आम मेहनतकश आबादी के जीवन में बदहाली कम होने के बजाय बढ़ती जाती है। इसी को विश्व बैंक जैसी पूँजीवादी संस्थाएँ "रोज़गार विहीन विकास" का नाम देती हैं।

पूँजी के अवयवी संघटन में वृद्धि श्रमशक्ति की माँग में सापेक्षिक कमी ला देती है। लेकिन पूँजी संचय बढ़ने के साथ श्रमशक्ति की आपूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। पूँजीवादी उत्पादन तकनीकों के विकास और मशीनों के व्यापक तौर पर अपनाये जाने से कई श्रम कार्य इतने आसान बन गये कि बहुत-सी औरतें और बच्चे भी भाड़े के मजदूरों की जमात में शामिल हो सकते थे। पूँजीपति उन्हें काम पर रखना पसन्द करते थे क्योंकि उनसे कम मजदूरी पर काम कराया जा सकता था। इसके साथ ही पूँजीवादी उत्पादन के फैलाव के साथ बड़ी संख्या में छोटे माल उत्पादक और छोटे पूँजीपति दिवालिया हो जाते हैं और अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर हो जाते हैं। छोटे व्यापारी, छोटे दुकानदार आदि को पूँजी लगातार उजाड़ती रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजीवाद का विकास बड़ी संख्या में किसानों को भी कंगाल बना देता है जो आजीविका कमाने के लिए शहरों में उमड़ पड़ते हैं। इन सब कारणों से श्रमशक्ति की आपूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

पूँजीवादी समाज में "अतिरिक्त" या "फालतू" आबादी

इस प्रकार, एक ओर श्रमशक्ति की माँग में सापेक्षिक रूप से कमी आती है, दूसरी ओर श्रमशक्ति की आपूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। नतीजा यह होता है कि पूँजीवादी समाज में हर समय बेरोज़गारों की एक बड़ी जमात मौजूद रहती है जो "सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी" होती है। यह तथाकथित सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी केवल पूँजीवादी माँग के सन्दर्भ में "अतिरिक्त" या "फालतू" होती है। इसका यह मतलब नहीं होता कि आबादी इतनी ज़्यादा हो गयी है कि समाज द्वारा पैदा किये जा रहे आजीविका के साधन उसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। वास्तव में निरपेक्ष अतिरिक्त आबादी जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती क्योंकि व्यक्ति के पास सिर्फ़ खाने के लिए मुँह ही नहीं होता, उसके पास दो हाथ भी होते हैं जिनसे वह भौतिक सम्पदा उत्पन्न कर सकता है। जब मेहनतकश जनता के

बेरोज़गारी क्यों पैदा होती है और इसके विरुद्ध संघर्ष की दिशा क्या हो

(पेज 12 से आगे)

हाथों में समाज की बागडोर होगी, तो वह आजीविका के और अधिक साधन पैदा करने के लिए उत्पादन को इस तरह से उन्नत और विस्तारित करेगी जिससे आम आबादी का जीवनस्तर ऊपर उठेगा। दुनिया के कई देशों में अतीत में ऐसा हो भी चुका है। केवल पूँजीवादी समाज में, जहाँ मज़दूरों की किस्मत उनके अपने हाथों में नहीं होती और मशीनों को पूँजी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, मज़दूरों को सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी के रूप में विस्थापित कर दिया जाता है।

पूँजीवादी समाज में अतिरिक्त आबादी के तीन मूल रूप होते हैं। पहला, सचल अतिरिक्त आबादी। यह वह बेरोज़गार आबादी होती है जो उत्पादन प्रक्रिया में अस्थायी तौर पर विस्थापित कर दी गयी है। इस प्रकार की बेरोज़गार आबादी औद्योगिक केन्द्रों में सबसे ज़्यादा होती है। आर्थिक संकटों के दौर में या नयी मशीनें और नयी तकनीकें अपनाये जाने पर कुछ मज़दूर विस्थापित हो जाते हैं। कारखानों में माँग बढ़ने पर बहुत से मज़दूरों को काम पर रखा जाता है और माँग घटते ही उन्हें निकालकर बाहर कर दिया जाता है। ज़्यादातर लोग कभी रोज़गार पाते हैं तो कभी सड़क पर आ जाते हैं। पिछले 25-30 वर्षों में निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों में सबसे ज़्यादा जोर इसी बात पर रहा है कि मालिकों को मनचाहे ढंग से मज़दूरों को काम पर रखने और निकालने का अधिकार होना चाहिए। आजकल कारखानों में ही नहीं, रेलवे, डाक-तार जैसे सरकारी विभागों से लेकर बैंकों तक में करोड़ों मज़दूर और कर्मचारी पूरी तरह नियोक्ताओं के रहमो-करम पर होते हैं, जिन्हें कभी भी निकालकर सड़क पर धकेला जा सकता है।

दूसरा है, छिपी हुई अतिरिक्त आबादी, यानी ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त आबादी। कृषि उत्पादन के पूँजीवादीकरण और पूँजी के अवयवी संघटन में वृद्धि के बाद कृषि मज़दूरों की माँग भी घटती जाती है। इससे भी बढ़कर यह कि कृषि में श्रमशक्ति का यह विस्थापन निरपेक्ष होता है। जब तक और नयी ज़मीन कृषियोग्य न बनायी जाये तबतक और श्रमशक्ति

नहीं खप सकती। पूँजीवादी कृषि द्वारा विस्थापित मज़दूरों में से बहुत से मज़दूर शहरों में चले जाते हैं। दूसरे ज़मीन के छोटे-से टुकड़े से चिपके रहते हैं और साथ में इधर-उधर के काम करके पेट पालते हैं। वे स्वरूप में बेरोज़गार भले न हों पर कृषि उत्पादन के लिए तो वे "फालतू" बना दिये गये होते हैं। इसे छिपी हुई अतिरिक्त आबादी कहते हैं।

तीसरा है, स्थिर अतिरिक्त आबादी। ये लोग अस्थायी किस्म के कामकाज या इधर-उधर के छोटे-मोटे काम करते हैं। उपलब्ध श्रमशक्ति का एक हिस्सा होते भी उनका कोई स्थायी पेशा नहीं होता। आमतौर पर उनके काम के घण्टे बहुत ज़्यादा और मज़दूरी बहुत कम होती है। उनका जीवनस्तर मज़दूर वर्ग के औसत जीवन स्तर से काफी नीचे होता है। आज हमारे देश में ऐसे "अर्द्ध-बेरोज़गारों" की तादाद करोड़ों में है और बढ़ती जा रही है।

पूँजीवादी समाज में, "फालतू" आबादी के इन तीन रूपों के अलावा बेहद ग़रीब लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या होती है जो दूसरों की दया पर निर्भर रहते हैं और भीख माँगकर गुज़ारा करते हैं। इनमें बूढ़े, कमज़ोर, विकलांग, अनाथ और बेघर लोग शामिल होते हैं जो विभिन्न कारणों से श्रम करने की क्षमता खो चुके होते हैं। ये सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी की सबसे निचली पायदान पर होते हैं और इनकी दशा सबसे ख़राब होती है।

सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी पूँजी संचय का अपरिहार्य परिणाम है। लेकिन, साथ ही, ये लोग पूँजी संचय में एक औज़ार, यहाँ तक कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के बने रहने और इसके विकास की एक शर्त भी बन जाते हैं। पूँजीपति बेरोज़गार मज़दूरों की मौजूदगी को काम पर लगे हुए मज़दूरों का शोषण-उत्पीड़न बढ़ाने के लिए 'ट्रम्प कार्ड' के रूप में इस्तेमाल करता है। पूँजीपतियों और उनके चाकरों के मुँह से ऐसी बातें अक्सर सुनी जा सकती हैं : "सौ मज़दूरों का इंतज़ाम करने से ज़्यादा मुश्किल है सौ कुत्ते ढूँढ़ना।" या, "इतने पर काम नहीं करना है, तो भाग जाओ, बाहर एक के बदले दस खड़े हैं लाइन में।" पूँजीपति इतना आक्रामक क्यों है? क्योंकि कारखाने के गेट के बाहर हज़ारों हज़ार बेरोज़गार

मज़दूर मौजूद हैं। पूँजीपति कारखाने के अन्दर के मज़दूरों को धमकाने और उनकी मज़दूरी कम करने के लिए इन बेरोज़गारों का इस्तेमाल करता है। इसके साथ ही पूँजीवाद होड़ और अराजकता के बीच ही विकसित होता है और अचानक सिकुड़ने या फैलने के दौर इसकी खासियत होते हैं। जब उत्पादन अचानक बढ़ता है तो पूँजीपति की श्रम की माँग श्रमशक्ति में स्वाभाविक रूप से होने वाली वृद्धि से पूरी नहीं हो पाती। तब पूँजीपति को श्रमशक्ति के "सुरक्षित भंडार" की ज़रूरत होती है। सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी ऐसे "सुरक्षित भंडार" का काम करती है। इसी अर्थ में पूँजीवादी समाज में बेरोज़गारों की विशाल फौज को औद्योगिक रिज़र्व सेना कहा जाता है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व और विकास इसके बिना नहीं हो सकता।

जनसंख्या के कारण बेरोज़गारी का फ़र्ज़ी सिद्धान्त

पूँजीवादी समाज में बेरोज़गारों की फ़ौज पूँजीपति के लिए एक 'अच्छी' चीज़ है क्योंकि यह शोषण में मदद करती है। पर यह उसके लिए शर्मिन्दगी का विषय भी है क्योंकि इसके कारण उसका तथाकथित सभ्य देश असभ्य दिखायी पड़ता है। साथ ही, जनता सबको रोज़गार देने की माँग उठाकर सरकार को मुश्किल में भी डाल सकती है। इस स्थिति से उबरने के लिए बुर्जुआ वर्ग की सेवा में लगे कुछ बुद्धिजीवियों ने पूँजीवादी व्यवस्था को सही ठहराने के लिए कई फ़र्ज़ी सिद्धान्त गढ़े। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में एक अंग्रेज़ अर्थशास्त्री माल्थस द्वारा दिया गया "जनसंख्या का सिद्धान्त" भी ऐसा ही एक फ़र्ज़ी सिद्धान्त था।

माल्थस ने एक धूर्ततापूर्ण तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि जनसंख्या ज्यामितीय क्रम में (1, 2, 4, 8...) बढ़ती है जबकि आजीविका के साधन अंकगणितीय क्रम में (1, 2, 3, 4...) बढ़ते हैं। उसने तर्क दिया कि "फालतू" आबादी, बेरोज़गारी और जनता की ग़रीबी का मूलभूत कारण यही है। इस तर्क का मकसद यह समझाना था कि बेरोज़गारी और ग़रीबी पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयों नहीं बल्कि प्रकृति के नियम का परिणाम है। माल्थस के

अनुसार युद्ध और महामारियाँ मानव समाज के लिए वरदान हैं। युद्धों और महामारियों में बड़ी संख्या में लोग मरते हैं जिससे फालतू आबादी के नकारात्मक प्रभाव कम होते हैं और जनसंख्या में वृद्धि आजीविका के साधनों में वृद्धि के अधिक अनुकूल हो जाती है।

लेकिन तथ्य तर्कों से ज़्यादा ताक़तवर होते हैं। माल्थस के प्रतिक्रियावादी "जनसंख्या के सिद्धान्त" में ज़्यादा दम नहीं है। जनसंख्या में ज्यामितीय वृद्धि और आजीविका के साधनों में अंकगणितीय वृद्धि दिखाने वाला यह फ़र्ज़ी विज्ञान अस्तित्व में कैसे आया? दरअसल हुआ यह था कि माल्थस ने एक ख़ास दौर में अमेरिका की जनसंख्या में हुई वृद्धि को जनसंख्या वृद्धि की दर का आधार बनाया। उसने एक ख़ास दौर में फ्रांस में खाद्यान्न उत्पादन में हुई वृद्धि को आजीविका के साधनों में वृद्धि की दर का आधार बनाया। उस समय अमेरिका की जनसंख्या में तेजी से हुई वृद्धि का कारण जनसंख्या की स्वाभाविक बढ़त नहीं था बल्कि बड़ी संख्या में आप्रवासियों के आने जैसे कारण इसके लिए जिम्मेदार थे। जहाँ तक फ्रांस के खाद्यान्न उत्पादन का सवाल है, यदि इसकी तुलना फ्रांस की जनसंख्या में हुई वृद्धि से की जाये, न कि अमेरिका की जनसंख्या वृद्धि से, तो यह जनसंख्या वृद्धि से कम नहीं, बल्कि ज़्यादा ही थी। 1760 में फ्रांस की जनसंख्या 21 लाख थी। प्रति व्यक्ति औसत खाद्यान्न उत्पादन 450 लीटर था। अस्सी वर्ष बाद 1840 में फ्रांस की जनसंख्या बढ़कर 34 लाख हो गयी, यानी इसमें 62 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पर खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि उससे भी तेज़ गति से हुई। 1840 में फ्रांस में प्रति व्यक्ति औसत खाद्यान्न उत्पादन 832 लीटर था यानी इसमें 85 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कई अन्य पूँजीवादी देशों के आँकड़ों से स्पष्ट है कि जनसंख्या में वृद्धि आजीविका के साधनों में वृद्धि से ज़्यादा नहीं थी। इसके विपरीत, आजीविका के साधनों में वृद्धि जनसंख्या वृद्धि से कहीं ज़्यादा थी। फिर भी मेहनतकश जनता बेहद ग़रीब थी और उसकी दशा शोचनीय थी। तथाकथित निरपेक्ष अतिरिक्त

आबादी के तर्क से पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयों को ढँकने की माल्थस की कोशिश एक निष्फल प्रयास था। लेकिन अशिक्षा और नाजानकारी के कारण हमारे देश में अब भी बहुत बड़ी आबादी इस तर्क से प्रभावित है और मानती है कि बेरोज़गारी तथा ग़रीबी का कारण यह पूँजीवादी व्यवस्था नहीं, बल्कि देश की बढ़ती आबादी है।

बेरोज़गारी के विरुद्ध संघर्ष

कोई भी पूँजीवादी सरकार रोज़गार को मौलिक अधिकार का दर्जा नहीं देती है। आप रोज़गार की माँग पर सरकार को अदालत में नहीं घसीट सकते हैं। लेकिन पूँजीवादी लोकतंत्र के बुनियादी उसूलों के अनुसार भी हर नागरिक के लिए रोज़ी-रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा का इन्तज़ाम सरकार की जिम्मेदारी है। हालाँकि पूँजीवाद के संकटग्रस्त होने और मेहनतकशों के आन्दोलन के कमज़ोर होते जाने के साथ ही सरकारों ने अपनी इस जिम्मेदारी से पीछा छुड़ाना शुरू कर दिया है। इसलिए बेरोज़गारी के सवाल पर एक सशक्त और व्यापक आन्दोलन खड़ा करना ज़रूरी है जो हर नागरिक के लिए रोज़गार की व्यवस्था करने की सरकार की जिम्मेदारी पर जोर दे।

ज़ाहिर है, रोज़गार का मतलब सबके लिए सरकारी नौकरी नहीं होता, जैसाकि कुछ लोग इसे पेश करते हैं। हमारे देश जैसी स्थिति में तो लाखों-लाख की संख्या में खाली पड़े पदों पर भरती करने, बन्द पड़े कारखानों, खदानों आदि को शुरू कराने, सार्वजनिक निर्माण के जनोपयोगी कामों को शुरू कराने, ठेकेदारी व्यवस्था को खत्म करके नियमित रोज़गार देने, बाल श्रम को खत्म करने, हर क्षेत्र में उचित न्यूनतम मज़दूरी को सख्ती से लागू कराने, बेरोज़गारों को जीवनयापन लायक बेरोज़गारी भत्ता देने जैसी माँगों को पुरज़ोर ढंग से उठाने की ज़रूरत है। साथ ही, इस संघर्ष को पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक संघर्ष से जोड़ने के लिए निरन्तर राजनीतिक प्रचार और शिक्षा के काम को चलाने की भी ज़रूरत है।

बढ़ती बेरोज़गारी और सत्ताधारियों की बेशर्मी

(पेज 16 से आगे)

क्या किया जाये?

ज़रा दिमाग पर जोर डालकर सोचने पर हम समझ सकते हैं कि सभी को रोज़गार देने के लिए तीन चीज़ें चाहिए (1) काम करने योग्य हाथ (2) विकास की सम्भावनाएँ (3) प्राकृतिक संसाधन। क्या हमारे यहाँ इन तीनों चीज़ों की कमी है? अब सवाल सरकारों की नीयत पर उठता है। पूँजीपरस्त और जनविरोधी नीतियों को लागू करने में कांग्रेस-भाजपा से लेकर तमाम रंगों-झण्डों वाले चुनावी

दल एकमत हैं, विरोध की नौटंकी केवल विपक्ष में बैठकर ही की जाती है! धर्म, जातिवाद और क्षेत्रवाद की राजनीति करने वाली चुनावी पार्टियाँ केवल अपनी गोटियाँ लाल करने के लिए हमें आपस में बाँटती हैं। ये किसी की सगी नहीं, अन्यथा ये खाली पदों को भरती और शिक्षा-रोज़गार-स्वास्थ्य के लिए नीतियाँ बनातीं। असल बात यह है कि मौजूदा तमाम चुनावी पार्टियों का मकसद ही आम जनता को ठगना है। और आज लुटारों के सभी दलों में से भाजपा ही पूँजीपतियों को अधिक

रास आ रही है। यह अनायास ही नहीं है कि अकेली भाजपा को ही कुल कॉर्पोरेट का 2012-13 में 89 प्रतिशत और 2015-16 में 87 प्रतिशत चन्दा प्राप्त हुआ है। अब आप ही सोचिए कि इन्हें आपकी फ़िक्र होगी या फिर अपने आकाओं की? रास भी क्यों न आये क्योंकि भाजपा संघ परिवार का हिस्सा है जोकि अपने ऐतिहासिक पुरखों की तरह फ़ासीवादी राजनीति के तहत आम जन को आपस में बाँटने का काम बड़ी ही शिद्दत से कर रहा है! लेकिन हर अँधेरे दौर की तरह मौजूदा दौर भी

बीत जाना निश्चित है, यह आम जन की नियति नहीं है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि यह दौर भी अपने आप नहीं बीतेगा बल्कि जन आन्दोलनों का दबाव ही सत्ताधारियों के घुटने टिका सकता है। इस या उस चुनावी मदारी की पूँछ पकड़ने की बजाय जन आन्दोलनों के द्वारा ही आम जन अपने हक-अधिकार हासिल कर सकते हैं। सरकारी अन्याय और अन्धेर्गर्दी के खिलाफ़ आवाज़ उठानी होगी। धर्म-जाति-आरक्षण के नाम पर किये जा रहे बँटवारे की राजनीति को समझना होगा।

केवल और केवल अपनी एकजुटता के बल पर शिक्षा-स्वास्थ्य-रोज़गार से जुड़े अपने हक-अधिकार हासिल किये जा सकते हैं। छात्रों-युवाओं और मेहनतकशों को इस बात को गहराई से समझना होगा। ग़ैरज़रूरी मुद्दों पर झगड़ों-दंगों से कोई फ़ायदा नहीं होगा। इन बातों को जितना जल्दी समझ लिया जाये उतना बेहतर होगा वरना आने वाली पीढ़ियों के सामने जवाब देने के लिए हमारे पास शब्द नहीं होंगे!

गजानन माधव मुक्तिबोध की कहानी

समझौता

अंधेरे से भरी, धुंधली, सँकरी प्रदीर्घ कॉरिडार और पत्थर की दीवारों। ऊँची घन की गहरी कार्निश पर एक जगह कबूतरों का घोंसला, और कभी-कभी गूँज उठनेवाली गुटरगूँ, जो शाम के छह बजे के सूने को और भी गहरा कर देती है। सूनी कॉरिडार घूमकर एक ज़ीने तक पहुँचती है। ज़ीना ऊपर चढ़ता है, बीच में रुकता है और फिर मुड़कर एक दूसरी प्रदीर्घ कॉरिडार में समाप्त होता है।

सभी कमरे बन्द हैं। दरवाज़ों पर ताले लगे हैं। एक अजीब निर्जन, उदास सूनापन इस दूसरी मंज़िल की कॉरिडार में फैला हुआ है। मैं तेज़ी से बढ़ रहा हूँ। मेरी चप्पलों की आवाज़ नहीं होती। नीचे मार्ग पर टाट का मैटिंग किया गया है।

दूर, सिर्फ़ एक कमरा खुला है। भीतर से कॉरिडार में रोशनी का एक खयाल फैला हुआ है। रोशनी नहीं, क्योंकि कमरे पर तक हरा परदा है। पहुँचने पर बाहर, धुंधले अंधेरे में एक आदमी बैठा हुआ दिखायी देता है। मैं उसकी परवा नहीं करता। आगे बढ़ता हूँ और भीतर घुस जाता हूँ।

कमरा जगमगा रहा है। मेरी आँखों में रोशनी भर जाती है। एक व्यक्ति काला ऊनी कोट पहने, जिसके सामने टेबिल पर कागज़ बिखरे पड़े हैं, अलसायी-थकी आँखें पोंछता हुआ मुसकराकर मुझसे कहता है, "आइए, हुज़ूर, आइए!" मेरा जी धड़ककर रह जाता है, 'हुज़ूर' शब्द पर मुझे आपत्ति है। उसमें गहरा व्यंग्य है। उसमें एक भीतरी मार है। मैं कन्धों पर फटी अपनी शर्ट के बारे में सचेत हो उठता हूँ। कमर की जगह पैंट तानने के लिए बेल्टनुमा पट्टी के लिए जो बटन लगाया गया था, उसकी गैरहाज़िरी से मेरी आत्मा भड़क उठती है।

और मैं ईर्ष्या से उस व्यक्ति के नये फ़ैशनेबल कोट की ओर देखने लगता हूँ और जवान चेहरे की ओर मुस्कान भरकर कहता हूँ, "आपका काम ख़त्म हुआ!"

मेरी बात में बनावटी मैत्री का रंग है। उसका काम ख़त्म हुआ या नहीं, इससे मुझे मतलब?

उसकी अलसायी थकान के दौर में वहाँ मेरा पहुँचना शायद उसे अच्छा लगा। शायद अपने काम से उसकी जो उकताहट थी, वह मेरे आने से भंग हुई। अकेलेपन से अपनी मुक्ति से प्रसन्न होकर उसने फैलते हुए कहा, "बैठो, बैठो, कुरसी लो!"

उसका वचन सुनकर मैं धीरे-धीरे कुरसी पर बैठता हूँ। वह अफ़सर फिर फ़ाइलों में डूब जाता है। दो पलों का विश्राम मुझे अच्छा लगता है। मैं कमरे का अध्ययन करने लगता हूँ। वही कमरा, मेरा जाना-पहचाना, जिसकी हर चीज़ मेरी जमायी है। मेरी देख-रेख में उसका पूरा इन्तज़ाम हुआ है। ख़ूबसूरत आराम कुरसियाँ, सुन्दर टेबल, परदे, आलमारियाँ, फ़ाइलें रखने का साइडरेक आदि-आदि। इस समय वह कमरा अस्त-व्यस्त लगता है, और बेहद पराया। बिजली की रोशनी में, उसकी

अस्त-व्यस्तता चमक रही है, उसका परायापन जगमगा रहा है।

मैं एक गहरी साँस भरता हूँ और उसे धीरे-धीरे छोड़ता हूँ। मुझे हृदय-रोग हो गया है - गुस्से का, क्षोभ का, खीझ का और अविचेकपूर्ण कुछ भी कर डालने की राक्षसी क्षमता का।

मेरे पास पिस्तौल है। और, मान लीजिए, मैं उस व्यक्ति का - जो मेरा अफ़सर है, मित्र है, बन्धु है - अब खून कर डालता हूँ। लेकिन पिस्तौल अच्छी है, गोली भी अच्छी है, पर काम - काम बुरा है। उस बेचारे का क्या गुनाह है? वह तो मशीन का एक पुर्जा है। इस मशीन में ग़लत जगह हाथ आते ही वह कट जायेगा, आदमी उसमें फँसकर कुचल जायेगा, जैसे बैगना। सबसे अच्छा है कि एकाएक आसमान में हवाई जहाज़ मँडराये, बमबारी हो और वह कमरा ढह पड़े, जिसमें मैं और वह दोनों ख़त्म हो जायें। अलबत्ता, भूकम्प भी यह काम कर सकता है।

फ़ाइल से सिर ऊँचा करके उसने कहा, "भाई, बड़ा मुश्किल है।" और उसने घण्टी बजायी।

एक ढीला-ढाला बेवकूफ़-सा प्रतीत होनेवाला स्थूलकाय व्यक्ति सामने आ खड़ा हुआ।

अफ़सर ने, जिसका नाम मेहरबान सिंह था, भौंहे ऊँची करके सप्रश्न भाव से कहा, "कैण्टीन से दो कप गरम चाय ले आओ।" मेरी तरफ़ ध्यान से देखकर फिर उससे कहा, "कुछ खाने को भी ले आना।"

चपरासी की आवाज़ ऊँची थी। उसने गरजकर कहा, "कैण्टीन बन्द हो गयी।"

"देखो, खुली होगी, अभी छह नहीं बजे होंगे।"

चाय और अल्पाहार के प्रस्ताव से मेरा दिमाग़ कुछ ठण्डा हुआ। ज़रा दिल में रोशनी फैली। आदमीयत सब जगह है। इन्सानियत का ठेका मैंने ही नहीं लिया। मेरा मस्तिष्क का चक्र घूमा। पैवलॉव ने ठीक कहा था - 'कण्डिशनड रिफ़्लेक्स!' खयाल भी रिफ़्लेक्स ऐक्शन है, लेकिन मुझे पैवलॉव की दाढ़ी अच्छी लगती है। उससे भी ज़्यादा प्रिय, उसकी दयालु, ध्यान भरी आँखें। उसका चित्र मेरे सामने तैर आता है।

मैं कुरसी पर बैठे-बैठे उकता जाता हूँ। कोई घटना होनेवाली है, कोई बहुत बुरी घटना। लेकिन मुझे उसका इन्तज़ार नहीं है। मैं उसके परे चला गया। कुछ भी कर लूँगा। मेहनत, मज़दूरी। फ़ाँसी पर तो चढ़ा नहीं दूँगा। लेकिन, एक दौस्तॉएवस्की था, जो फ़ाँसी पर चढ़ा और ज़िन्दा उतर आया। जी हाँ, ऐन मौक़े पर ज़ार ने हुक़म दे दिया। देखिए, भाग्य ऐसा होता है।

मैं कॉरिडार में जाता हूँ वहाँ अब घुप अंधेरा हो गया। मैं एक जगह ठिठक

जाता हूँ, जहाँ से ज़ीना घूमकर नीचे उतरता है। यह एक सँकरी आँगननुमा जगह है। मैं रेलिंग के पास खड़ा हो जाता हूँ। नीचे कूद पड़ूँ तो। बस काम तमाम हो जायेगा! जान चली जायेगी, फिर सब ख़त्म, अपमान ख़त्म, भूख ख़त्म... लेकिन प्यार भी ख़त्म हो जायेगा, उसको सुरक्षित रखना चाहिए... और फिर चाय आ रही है। चाय पीकर ही क्यों न जान दी जाये, तृप्त होकर, सबसे पूछकर!

बिल्ली जैसे दूध की आलमारी की तरफ़ नज़र दौड़ाती है, उसी तरह मैंने बिजली के बटन के लिए अंधेरे भरी पत्थर की दीवार पर नज़र दौड़ायी। हाँ, वो वहीं है। बटन दबाया। रोशनी ने आँख खोली। लेकिन प्रकाश नाराज़-नाराज़-सा, उकताया-उकताया-सा फैला।

आखिरकार उसने जोकर बनने का बीड़ा उठाया। भूख ने उसे काफ़ी निर्लज्ज भी बना दिया था। शाम को, जब खेल शुरू होने के लिए करीब दो घण्टे बाक़ी थे, उनके सर्कस के द्वार से घुसना चाहा कि वह रोक दिया गया। वह अन्दर जाने के लिए गिड़गिड़ाया। दो मज़बूत आदमियों ने उसकी दो बाँहें पकड़ लीं।... "कहाँ जा रहे हो?" "मैनेजर साहब से मिलना है।" अँगरेज़ी में जवाब मिला, "वहाँ नहीं जा सकते! क्या काम है?" हिन्दी में - "नौकरी चाहिए।" अँगरेज़ी में जवाब मिला, "नौकरी नहीं है, गेट-आउट।" और वह बाहर फेंक दिया गया।

चलो, मैंने सोचा, चपरासी को रास्ता साफ़ दीखेगा।

मैंने एक ओर के दरवाज़े से प्रवेश किया। दूसरी ओर के दरवाज़े से चपरासी ने मेरा चेहरा खुला। मेहरबान सिंह, नाटे-से, काले-से, कभी फ़ीस की माफ़ी के लिए हरिजन, कभी गोण्ड-ठाकुर, अलमस्त और बेफ़िक़्रे, ज़बान के तेज़, दिल से साफ़, अफ़सरी बू और आदमीयत की गन्ध। और एक छोटा-सा चौकोर चेहरा! उन्होंने हाथ ऊँचे कर, देह मोड़कर बदन से आलस मुक्त किया और एक लम्बी जमुहाई ली।

मेरा ध्यान चाय की ट्रे पर था। उनका ध्यान काग़ज़ पर।

उन्होंने कहा, "करो दस्तख़त... यहाँ... यहाँ!"

मैं धीरे-धीरे कुरसी पर बैठा। आँखें काग़ज़ पर गड़ायीं। भँवें सिकुड़ीं, और मैं पूरा-का-पूरा, काग़ज़ में समा गया।

मैंने चिढ़कर अँगरेज़ी में कहा, "यह क्या है?"

उन्होंने दृढ़ स्वर में जवाब दिया, "इससे ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता।"

विरोध प्रदर्शित करने के लिए मैं बेचैनी से कुरसी से उठने लगा तो उन्होंने

आवाज़ में नरमी लाकर कहा, "भाई मेरे, तुम्हीं बताओ, इससे ज़्यादा क्या हो सकता है! दिमाग़ हाज़िर करो, रास्ता सुझाओ!"

"लेकिन मुझे 'स्केपगोट' बनाया जा रहा है, मैंने क्या किया!"

चाय के कप में शक्कर डालते हुए उन्होंने, एक और काग़ज़ मेरे सामने सरका दिया और कहा, "पढ़ लीजिए!"

मुझे उस काग़ज़ को पढ़ने की कोई इच्छा नहीं थी। चाहे जो अफ़सर मुझे चाहे जो काम नहीं कह सकता। मेरा काम बँधा हुआ है।

नियम के विरुद्ध मैं नहीं था, वह था। लेकिन, उसने मुझे जब डाँटकर कहा तो मैंने पहले अदब से, फिर ठण्डक से, फिर और ठण्डक से, फिर खीझकर एक ज़ोरदार जवाब दिया। उस जवाब में 'नासमझ' और 'नाख़्वाँद' जैसे शब्द ज़रूर थे। लेकिन, साइण्टिफ़िकली स्पीकिंग, ग़लती उसकी थी, मेरी नहीं! फिर गुस्से में मैं नहीं था। एक जूनियर आदमी मेरे सिर पर बैठा दिया गया, ज़रा देखो तो! इसीलिए कि वह फ़लॉ-फ़लॉ का ख़ास आदमी, वह 'ख़ास-ख़ास' काम करता था। उस शख्स के साथ मेरी 'ह्यूमन डिफ़िक़ल्टी' थी।

मेहरबान सिंह ने कहा, "भाई, ग़लती मेरी भी थी, जो मैंने यह काम तुम्हारे सिपुर्द करने के बजाय, उसको सौंप दिया। लेकिन चूँकि फ़ाइलें दौड़ गयी हैं, इसलिए ऐक्शन तो लेना ही पड़ेगा। और उसमें है क्या! वार्निंग है, सिर्फ़ हिदायत!"

हम दोनों चाय पीने लगे, और बीच-बीच में खाते जाते।

एकाएक उन्हें ज़ोर की गगन-भेदी हँसी आयी। मैं विस्मित होकर देखने लगा। जब उनकी हँसी का आलोड़न ख़त्म होने को था कि उन्होंने कहा, "लो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। तुम अच्छे, प्रसिद्ध लेखक हो। सुनो और गुनो!"

और मेहरबान सिंह का छोटा-सा चेहरा गम्भीर होकर कहानी सुनाने लगा। - मुसीबत आती है तो चारों ओर से। ज़िन्दगी में अकेला, निस्संग और बीए पास एक व्यक्ति नाम नहीं बताऊँगा।

कई दिनों से आधा पेट। शरीर से कमज़ोर। ज़िन्दगी से निराशा। काम नहीं मिलता। शनि का चक्कर।

हर भले आदमी से काम माँगता है। लोग सहायता भी करते हैं। लेकिन उससे दो जून खाना भी नहीं मिलता, काम नहीं मिलता, नौकरी नहीं मिलती। चपरासीगिरी की तलाश है, लेकिन वह भी लापता। कपबशी धोने और चाय बनाने के काम से लगता है कि दो दिनों बाद अलग कर दिया जाता है। जेब में बीए का सर्टिफ़िकेट है। लेकिन काम का!

मैंने सोचा, मेहरबान सिंह अपनी

ज़िन्दगी की कथा कह रहे हैं। मुझे मालूम तो था कि मेरे मित्र के बचपन और नौजवानी के दिन अच्छे नहीं गये हैं। मैं और ध्यान से सुनने लगता हूँ।

मेहरबान सिंह का छोटा-सा काला चौकोर चेहरा भावना से विद्रूप हो जाता है। वह मुझसे देखा नहीं जाता। मेहरबान सिंह कहता है - नौकरी भी कौन दे? नीचे की श्रेणी में बड़ी स्पर्धा है। चेहरे से वह व्यक्ति एकदम कुलीन, सुन्दर और रौबदार, किन्तु धिधियाया हुआ। नीचे की श्रेणी में जो अलकतियापन है, गाली-गलौज की जो प्रेमपदावली, फटेहाल ज़िन्दगी की जो कठोर, विद्रूप, भूखी, भयंकर सभ्यता है, वहाँ वह कैसे टिके। कमज़ोर आदमी, रिक़शा कैसे चलाये।

नीचे की श्रेणी उस पर विश्वास नहीं कर पाती। उसे मारने दौड़ती है। उसका वहाँ टिकना मुश्किल है। दरमियानी वर्ग में वह जा नहीं सकता। कैसे जाये, किसके पास जाये! जब तक उसकी जेब में एक रुपया न हो।

मेहरबान सिंह के गले में आँसू का काँटा अटक गया। मैं सब समझता हूँ, मुझे ख़ूब तज़रबा है, इस आशय से मैंने उनकी तरफ़ देखा और सिर हिला दिया।

उन्होंने सूने में, अजीब से सूने में, निगाह गड़ाते हुए कहा - शायद उनका लक्ष्य आँखों-ही-आँखों में आँसू सोख लेने का था, जिन्हें वे बताना नहीं चाहते थे - आत्महत्या करना आसान नहीं है। यह ठीक है कि नयी शुक़्तवारी-तालाब में महीने में दो बार आत्महत्याएँ हो जाती हैं। लेकिन छः लाख की जनसंख्या में सिर्फ़ दो माहवार, यानी साल में चौबीस। दूसरे ज़रियों से की गयी आत्महत्याएँ मिलायी जायें तो सालाना पचास से ज़्यादा न होंगी। यह भी बहुत बड़ी संख्या है। आत्महत्या आसान नहीं है।

उनके चेहरे पर काला बादल छा गया। अब वे पहचान में नहीं आते थे। अब वे मेरे अफ़सर भी न रहे, मेरे परिचित भी नहीं। सिर्फ़ एक अजनबी-एक भयानक अजनबी। मेरा भी दम घुटने लगा। मैंने सोचा, कहाँ का क्रिस्सा छेड़ दिया। मेहरबान सिंह ने मेरी ओर कहानीकार की निगाह से देखा और कहा कि उन दिनों शहर में एक सर्कस आया हुआ था। बड़ी धूम-धाम थी। बड़ी चहल-पहल।

रोज़ सुबह-शाम सर्कस का प्रोसेशन निकलता, बाजे-गाजे के साथ बैण्ड-बाजे के साथ। जुलुस में एक मोटर का ठेला भी चलता, खुला ठेला, प्लेटफ़ार्म-नुमा। उस पर रंग-बिरंगे, अजीबोग़रीब जोकर विचित्र हावभाव करते हुए नाचते रहते। लोगों का ध्यान आकर्षित करते।

- जो एक लम्बे अरसे से बेघरबार और बेकार रहा है, उसकी इस्टिंकट [प्रवृत्ति] शायद आपको मालूम नहीं। वह व्यक्ति क्रान्तिकारक नहीं होता, वह ख़ासतौर पर... घुमन्तु 'जिप्सी' होता है। उसे चाहे जो वस्तु, दृश्य, घटना, दुर्घटना, यात्रा, बारिश, कष्ट, दुख, सुन्दर चेहरा, बेवकूफ़ चेहरा, मलिनता, कोढ़, सब

(पेज 15 पर जारी)

समझौता

(पेज 14 से आगे)

तमाशे-नुमा मालूम होता है। चाहे जो... खींचता है... आकर्षित करता है, और कभी-कभी पैर उधर चल पड़ते हैं।

एक आइडिया, एक खयाल आँखों के सामने आया। जोकर होना क्या बुरा है! जिन्दगी-एक बड़ा भारी मज़ाक़ है; और तो और, जोकर अपनी भावनाएँ व्यक्त कर सकता है। चपत जड़ सकता है। एक-दूसरे को लात मार सकता है, और, फिर भी, कोई दुर्भावना नहीं है। वह हँस सकता है, हँसा सकता है। उसके हृदय में इतनी सामर्थ्य है।

मेहरबान सिंह ने मेरी ओर अर्थ-भरी दृष्टि से देखकर कहा कि इसमें कोई शक नहीं कि जोकर का काम करना एक परवर्षन-अस्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य की सारी सभ्यता के पूरे ढाँचे चरमराकर नीचे गिर पड़ते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं। लेकिन असभ्यता इतनी बुरी चीज़ नहीं, जितना आप समझते हैं। उसमें इंस्टिंक्ट का, प्रवृत्ति का खुला खेल है, आँख-मिचौनी नहीं। लेकिन अलबत्ता, वह परवर्षन ज़रूर है। परवर्षन इसलिए नहीं कि मनुष्य परवर्त है, वरन इसलिए कि परवर्षन के प्रति उसका विशेष आकर्षण है, या कभी-कभी हो जाता है। अपने इंस्टिंक्ट के खुले खेल के लिए असभ्य और बर्बर वृत्ति के सामर्थ्य और शक्ति के प्रति खिंचाव रहना, मैं तो एक ढंग का परवर्षन ही मानता हूँ।

मेहरबान सिंह के इस वक्तव्य से मुझे लगा कि वह उनका एक आत्मनिवेदन मात्र है। मैं यह पहचान गया। इसे भाँप गया। उनकी आँखों में एकाएक प्रकट हुई और फिर वैसे ही तुरन्त लुप्त हुई रोशनी से मैं यह जान गया। लेकिन मेरे खयाल की उन्होंने परवा नहीं की। और उनकी कहानी आगे बढ़ी।

आखिरकार उसने जोकर बनने का बीड़ा उठाया। भूख ने उसे काफ़ी निर्लज्ज भी बना दिया था। शाम को, जब खेल शुरू होने के लिए करीब दो घण्टे बाक़ी थे, उनके सर्कस के द्वार से घुसना चाहा कि वह रोक दिया गया। वह अन्दर जाने के लिए गिड़गिड़ाया। दो मज़बूत आदमियों ने उसकी दो बाँहें पकड़ लीं। वे गोआनीज़ मालूम होते थे। "कहाँ जा रहे हो?" रौब ज़माने के लिए उसने अँगरेज़ी में कहा, "मैनेजर साहब से मिलना है।" अँगरेज़ी में जवाब मिला, "वहाँ नहीं जा सकते! क्या काम है?" हिन्दी में - "नौकरी चाहिए।" अँगरेज़ी में जवाब मिला, "नौकरी नहीं है, गेट-आउट।" और वह बाहर फेंक दिया गया।

दिल को धक्का लगा। बाहर, एक पत्थर पर बैठे-बैठे वह सोचने लगा - कहीं भी जनतन्त्र नहीं है। यहाँ भी नहीं। भीख नहीं माँग सकता, यह असम्भव है, इसलिए नौकरी की तलाश है। और वह मन-ही-मन न मालूम क्या-क्या बड़बड़ाने लगा।

मेहरबान सिंह ने कहा कि यहाँ से कहानी एक नये और भयंकर तरीके से मुड़ जाती है। वह मैनेजर को देखने का प्रयत्न करे, या वापस हो! बताइए, आप

बताइए! और, उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालीं।

उनके प्रश्न का मैं क्या जवाब देता! फिर भी मैंने अपने तर्क से कहा कि स्वाभाविक यही है कि वह मैनेजर से मिलने की एक बार और कोशिश करे। जोकर की कमाई भी मेहनत की कमाई होती है! कोई धर्मादाय पर जीने की बात तो है नहीं।

- एकज़ैकटली! [ठीक बात है] उन्होंने कहा। उसने भी यही निर्णय लिया, लेकिन यह निर्णय उसके आगे आनेवाले भीषण दुर्भाग्य का एकमात्र कारण था। वह निर्णयात्मक क्षण था, जब उसने यह तय किया कि मैनेजर से मिलने के लिए सर्कस के सामने वह भूख-हड़ताल करेगा। उसने यह तय किया, संकल्प किया, प्रण किया। और, वह प्रण आगे चलकर उसके नाश का कारण बना! दिल की सचाई, और सही-सही निर्णय से, दुर्भाग्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका चक्र स्वतन्त्र है, उसके अपने नियम है।

मेहरबान सिंह अपनी कुरसी से उठ पड़े। कोट की जेबों में माचिस की तलाश करने लगे। मैंने अपनी जेब से उन्हें दियासलाई दी, जिसमें कुछ ही तीलियाँ शेष थीं। उन्होंने मुझे सिगरेट ऑफ़र की। मैंने कहा, "नहीं-नहीं, मेरे पास बीड़ी है।" "अरे लो!! कामरेड!! लाओ मुझे बीड़ी दो!! मैं बीड़ी पीऊँगा!!"

कामरेड शब्द के प्रयोग पर मुझे ताज्जुब है। ऐसा उन्होंने क्यों कहा? मेरे लिए इस शब्द का आज तक किसी ने प्रयोग नहीं किया। मैं मेहरबान सिंह के अतीत के विषय में कुछ जिज्ञासु और सशंक हो उठा। मेरी कल्पना ने कहा - इनके भूतकाल में कोई भूत ज़रूर बैठा है। एक सेकण्ड क्लास गजेटेड अफ़सर की रैंक का आदमी, इस शब्द का प्रयोग करता है, ज़रूर वह पुराने ज़माने में उचक्का रहा होगा।

मेहरबान सिंह ने भौंहों के परे देखते हुए, मानो आसमान की तरफ़ देख रहे हों, बीड़ी का एक कश खींचा, और कहा, "इसके आगे मैं ज्यादा नहीं कह सकूँगा, केवल इम्प्रेशन ही कहूँगा।"

- भूख हड़ताल के आस-पास लोगों के जमाव से घबराकर नौकरों ने शायद, मैनेजर के सामने जाकर यह बात कही। थोड़े ही समय बाद, शामियाने के अन्दर बनाये गये एक कमरे में वह ले जाया गया। भीड़ बाहर रोक दी गयी। थोड़ी देर बाद सर्कस शुरू हुआ।

काले पैट पर सफ़ेद झक कोट पहने वह साढ़े छः फुट का एक मोटा-ताज़ा आदमी था, जो बिलकुल गोरा, यहाँ तक कि लाल मालूम होता था। वह या तो ऐंग्लो-इण्डियन होगा या गोआनीज़! आँखें कंजी, जिसमें हरी झँक थी। वह एकदम चीता मालूम होता था। उतना ही खूबसूरत, वैया ही भयंकर!

उसने साफ़ हिन्दी में कहा, "क्या चाहते हो?" उसे काटो तो खून नहीं। उसके राक्षसी भव्य सफ़ेद सौन्दर्य को देखकर, वह इतना हतप्रभ हो गया था।

मैनेजर ने फिर पूछा, "क्या चाहते हो?" दिमाग़ सुन्न हो गया था। मैनेजर के आसपास खूबसूरत औरतें आ-जा रही थीं। गुलाब-सी खिली हुई, या जिन्दा लाल माँस-सी चमकती हुई। लेकिन भयंकर आकर्षक। उसने सोचा, यह एक नया तजरबा है। उसने शब्दों में दयनीयता लाते हुए कहा, "मुझे नौकरी चाहिए, कोई भी। चाहो तो झाड़ू दे सकता हूँ, कपड़े साफ़ कर सकता हूँ। मुझे नौकर रख लो। चाहो तो मुझे जोकर बना दो, कई दिन से, पेट में कुछ नहीं! मैं आपके पाँव पड़ता हूँ।"

- तो, साहब वह गिड़गिड़ाहट जारी रही। शब्द, वाक्य बग़ैर कामा फुलस्टाप के बहते गये, गहते गये! वहाँ के वातावरण के चमत्कारपूर्ण भयंकर आकर्षण ने उसे जकड़ लिया। उसने निश्चय कर लिया कि मैं जान दे दूँगा, लेकिन यहाँ से टलूँगा नहीं। मैनेजर ने ऐसा आदमी नहीं देखा था। पता नहीं, उसने क्या सोचा। लेकिन उसके चेहर पर आश्चर्य और घृणा के भाव रहे होंगे।

उसने कठोर स्वर में कहा, "मेरे पास कोई नौकरी नहीं है। लेकिन तुम्हें रख सकता हूँ, सिर्फ़ एक शर्त पर।" वह उसका चेहरा देखता खड़ा रह गया। अचानक दया से, उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला। उसने केवल इतना सुना, 'सिर्फ़ एक शर्त पर'। उसके मौखिक व्यायाम-सा करते हुए कहा, "मैं हर शर्त मानने के लिए तैयार हूँ। मैं झाड़ू दूँगा। पानी भरूँगा। जो कहेंगे सो करूँगा।" (जिन्दगी का एक ढर्रा तो शुरू हो जायेगा।) मैनेजर ने घृणा, तिरस्कार और रौब से उसके सामने एक रुपया फेंकते हुए कहा, "जाओ, खा आओ, कल सुबह आना!" और मुँह फिराकर वह दूसरी ओर चलता बना। एक सीन खत्म हुआ। दुर्भाग्य के मारे इस व्यक्ति ने फिर उस मैनेजर का चेहरा कभी नहीं देखा।

मेहरबान सिंह किस्सा कहते-कहते थक गये-से मालूम हुए। उन्होंने एक सिगरेट मेरे पास फेंकी, एक खुद सुलगायी और कहने लगे, "किस्सा मुश्किल में यों है कि दूसरे दिन जब तड़के ही वह व्यक्ति सर्कस में दाखिल हुआ तो दो अजनबी आदमियों ने उसकी बाँहें पकड़ लीं और एक बन्द कोठे में ले गये। उसे कहा गया कि उसकी ड्यूटी सिर्फ़ कमरे में बैठे रहना है। उस दिन उसे खाना-पीना नहीं मिला। कोठे में किसी जंगली दरिन्दे की बास आ रही थी। उसके शरीर की उग्र दुर्गन्ध वहाँ वातावरण में फैली हुई थी। कमरा छोटा था। और बहुत ऊँचाई पर एक छोटा-सा सूराख था, जहाँ से हवा और प्रकाश आता था; लेकिन वह अँधेरे के सूनूपन को चीरने में असमर्थ था। वह व्यक्ति एक दिन और एक रात वहाँ पड़ा रहा। उसे सिर्फ़ दरिन्दों का खयाल आता। उनके भयानक चेहरे उसे दिखायी देते, मानो वे उसे खा जायेंगे।

एक बड़े ही लम्बे और कष्टदायक अरसे के बाद, जब एक चमकदार यहूदी औरत ने कोठे का दरवाज़ा खोला और

कहा, "गुड मॉर्निंग", तब उसे समझ में आया कि वह स्वयं जिन्दगी का एक हिस्सा है, मौत का हिस्सा नहीं। औरत बेतकल्लुफी से उसके पास बैठ गयी और उसे नाश्ता कराया, जिसमें कम-से-कम तीन कप गरम-गरम चाय, ताज़ा भुना गोश्त, अण्डा, सेण्डविचज़ और कुछ भारतीय मिठाई भी थी।

लेकिन, इतना सब कुछ उससे खाया नहीं गया। मरे हुए की भाँति उसने पूछा, "मुझे कब तक कोठे में रखा जायेगा, मेरी ड्यूटी क्या है?" यहूदी औरत सिर्फ़ मुसकरायी। उसने कहा, "ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम्हारी तरक्की का रास्ता खुल रहा है। ये तो बीच के इम्तिहानात हैं, जिन्हें पास करना निहायत ज़रूरी है।" किन्तु, उस व्यक्ति का मन नहीं भरा। उसने फिर पूछा, "क्या मैं मैनेजर से मिल सकता हूँ?" यहूदी औरत ने उसकी तरफ़ सहानुभूतिपूर्वक देखते हुए कहा, "अब मैनेजर से तुम्हारी मुलाक़ात हो ही नहीं सकती। अब तुम दूसरे के चार्ज में पहुँच गये हो, वह तुम्हें मैनेजर से मिलने नहीं देगा।" यहूदी औरत जब वापस जाने लगी तब उसने कहा, "कल फिर आओगी क्या?" उसने पीछे की ओर देखा, मुसकरायी और बग़ैर जवाब दिये वापस चली गयी। कोठे का दरवाज़ा बाहर से बन्द हो गया। और, एक बच्चे की भाँति वह उस चमकदार और छाया-बिम्ब से खेलता रहा। किन्तु उसका यह सुख क्षणिक ही था। लगभग दो घण्टे घुप अँधेरे में रहने के बाद दरवाज़ा चरमराया और वास्कट पहने हुए दो काले व्यक्ति हण्टर लिए हुए वहाँ पहुँचे।

वे न मालूम कैसी-कैसी भयंकर कसरतें करवाने लगे, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे कसरतें नहीं थीं, शारीरिक अत्याचार था। ज़रा ग़लती होने पर वे हण्टर मारते। इस दौरान उस व्यक्ति की काफ़ी पिटाई हुई। उसके हाथ, पैर, ठोड़ी में घाव लग गये। वह कराहने लगा। कराह सुनते ही, चाबुक का गुस्सा तेज़ हो जाता। मतलब यह कि वह अधमरा हो गया। उसको ऐसी हालत में छोड़कर, हण्टरधारी राक्षस चले गये।

करीब तीन घण्टे बाद, चाय आयी, डॉक्टर आये, इंजेक्शन लगे, किन्तु किसी ने दरिन्दे की दुर्गन्ध से भरे हुए उस कोठे में से उसे नहीं निकाला। समय ने हिलना-डुलना छोड़ दिया था। वह जड़ीभूत सूने में परिवर्तित हो गया था। बाद में, दो-एक दिन तक, किसी ने उसकी खबर नहीं ली। उसे प्रतीत होने लगा कि वह किसी क़ब्र के भीतर के अन्तिम पत्थर के नीचे गड़ा हुआ सिर्फ़ एक अधमरा प्राण है। एकाएक तीन-चार आदमियों ने प्रवेश किया और उसे उठाकर, मानो वह प्रेत हो, एक साफ़-सुथरे कमरे में ले गये। वहीं उसे दो-चार दिन रखा गया, अच्छा भोजन दिया गया। कुछ दिनों बाद, ज्यों ही उसके स्वास्थ्य में सुधार हुआ, उसे वहाँ से हटाकर रीछों के एक पिंजरे में दाखिल कर दिया गया। अब उसके दोस्त रीछ बनने लगे। वहीं उसका घर था, कम-से-कम वहाँ हवा और रोशनी तो थी। लेकिन, उसकी यह प्रसन्नता अत्यन्त क्षणिक थी। उसके शरीर पर अत्याचार का नया दौर शुरू हुआ। उससे

अजीबोगरीब ढंग की कवायदें करायी जातीं। रीछों के मुँह में हाथ डलवाये जाते, रीछ छाती पर बढ़वाया जाता और ज़रा ग़लती की कि हण्टर। कुछ रीछ बड़े शैतान थे। उसका मुँह चाटते, कान काट लेते। उनके बालों में कीड़े रहा करते और हमेशा यह डर रहता कि कहीं रीछ उसे मार न डालें। शुरू-शुरू में, व्यक्ति को भुना हुआ मांस मिलता। अब उसके सामने कच्चे मांस की थाली जाने लगी। अगर न खाये तो मौत, खाये तो मौत।

और हण्टर का तो हिसाब न पूछो। शायद ही कोई ऐसा दिन गया होगा, जब उस पर हण्टर न पड़े हों, बाद में भले ही टिंक्वर आयोडिन और मरहम लगाया गया हो। वह यह पहचान गया कि उसे जान-बूझकर पशु बनाया जा रहा है। पशु बन जाने की उसे ट्रेनिंग दी जा रही है। उसके शरीर के अन्दर नयी सहनशक्ति पैदा की जा रही है। अब उसे कोठे से निकाल बाहर किया गया और एक दूसरे छोटे पिंजरे में बन्द कर दिया गया। यहाँ कोई नहीं था, और एक निर्द्वन्द्व अकेला जानवर था। अकेलेपन में वह पिछली जिन्दगी से नयी जिन्दगी की तुलना करने लगता और उसे आत्महत्या करने की इच्छा हो जाती। इस नये क्षेत्र में, जीवन-यापन का एकमात्र स्टैण्डर्ड यह था कि वह पशु-रूप बन जाये। उसने इसकी कोशिश भी की।

अति भीषण क्षण में चार-पाँच आदमी पिंजरे में घुसे और उसे घेर लिया। उसकी भयभीत पुतलियाँ आँखों में मछली-सी तैर रही थीं। वह डर के मारे बर्फ़ हो रहा था। शायद, अब उसे बिजली के हण्टर पड़ेंगे। पाँचों आदमियों ने उसे पकड़ लिया और उसके शरीर पर ज़बरदस्ती रीछ का चमड़ा मढ़ दिया गया और उससे कह दिया गया कि साले अगर रीछ बनकर तुम नहीं रहोगे तो गोली से फ़ौरन से पेशतर उड़ा दिये जाओगे।

यहाँ से उस व्यक्ति का मानव-अवतार समाप्त होकर ऋक्षावतार शुरू होता है। उससे वे सभी कवायदें करवायी जाती हैं, जो एक रीछ करता है। उस सबकी प्रैक्टिस दी जाती है और प्रैक्टिस भी कैसी - महाभीषण! और अगर नहीं की तो सभी आदमी एकदम उस पर हमला करते हैं। बिजली के हण्टरों की फटकार, गाली-गलौज़ और मारपीट तो मानो रूटीन हो गयी है। जलते हुए लोहे के पहिये के बीच से उसे निकल जाने को कहा जाता है। उसे खौफ़नाक ऊँचाई से कुदवाया जाता है आदि आदि।

फिर उसे कच्चा माँस, भुना माँस और शराब पिलायी जाती है और यह घोषित किया जाता है कि कल उसकी प्रैक्टिस अकेल-अकेले सिर्फ़ शेरों के साथ होगी।

शीघ्र ही इम्तिहान का चरम क्षण उपस्थित होता है। वह रात भर भयंकर दुःस्वप्न देखता रहा है। वैसे तो सर्कस की उसकी पूरी जिन्दगी एक भीषण दुःस्वप्न है, किन्तु कल रात का उसका सपना, दुःस्वप्न के भीतर का एक भीषण दुःस्वप्न रहा है, जिसे वह कभी नहीं भूल सकता। सुबह उठता है तो विश्वास नहीं कर पाता है कि वह इन्सान है। चले

(पेज 7 पर जारी)

बढ़ती बेरोज़गारी और सत्ताधारियों की बेशर्मी

इन्द्रजीत

ब्लूमबर्ग की एक रिपोर्ट के अनुसार बेरोज़गारी की बढ़ती दर के मामले में भारत 8.0 प्रतिशत की दर के साथ एशिया में पहले स्थान पर पहुँच गया है। उप-राष्ट्रपति के पद को शोभायमान कर रहे वंकेया नायडू ने हालिया दिनों में बयान दिया था कि सभी को सरकारी नौकरी नहीं दी जा सकती व स्वरोज़गार भी काम ही है तथा साथ ही कह दिया कि चुनाव में हर पार्टी रोज़गार देने जैसे वायदे कर ही दिया करती है, तो कहने का मतलब भाजपा ने भी तो इसी गौरवशाली परम्परा को ही आगे बढ़ाया है! 'न्यूज़ रूम' से लेकर राज्यसभा और वहाँ से लेकर नेताओं-मन्त्रियों और सरकारी भोंपुओं के दरबारों तक हर जगह पकौड़े का खूब महात्म्य गाया जा रहा है। आप बेशक मशहूर शायर दुष्यन्त कुमार के विचारों से इत्फ़ाक न रखते हों, पर उनका एक शेर हुक्मरानों की अच्छी कलाई खोलता है। शेर है - 'कहाँ तो तय था चरागाँ हर घर के लिए / कहाँ चरागाँ मयस्सर नहीं शहर के लिए।' हालिया अख़बारी ख़बरों के हवाले से यह बात सामने आयी है कि केन्द्र में बैठी भाजपा नीत राजग सरकार पाँच साल से ख़ाली पड़े पदों को समाप्त करने की ठान चुकी है। केन्द्र सरकार के द्वारा कुल 36 लाख 33 हजार 935 पदों में से 4 लाख 12 हजार 752 पद ख़ाली पड़े हैं तथा इनमें से करीब आधे पद ख़ाली हैं। कहाँ तो चुनाव से पहले करोड़ों रोज़गार देने के ढोल बजाय जा रहे थे कहाँ अब ख़ाली पदों पर काबिल युवाओं को नियुक्त करने की बजाय पदों को ही समाप्त करने के लिए कमर कस ली गयी है। देश के प्रधानमन्त्री से लेकर सरकार के आला मन्त्रीगण बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। कहा जा रहा है कि 'शाम तक 200 रुपये के पकौड़े बेचना भी काफ़ी बेहतर रोज़गार है' और इसके लिए भी सरकार बहादुर अपनी पीठ थपथपा रही है! अब 'मरता क्या न करता' अपना और अपने बच्चों का पेट भरने के लिए फ़ाके करके और किसी-न-किसी तरह छोटे-मोटे काम काम-धन्धे करके जैसे-तैसे लोग गुज़र-बसर कर रहे हैं, किन्तु आम जन की हालत का मज़ाक़ उड़ाते हुए बेशर्मी सत्ताधारियों द्वारा कहा जा रहा है कि 'स्वरोज़गार भी तो नौकरी ही है। नौकरी के लिए सरकार का मुँह ताकने की क्या ज़रूरत है?' लेकिन बजट बनाते समय करों का बोझ जब जनता की कमर पर लादना हो तब सरकार को क़र्तई अहसास नहीं होता कि यह जो जनता की जेब से एक-एक दमड़ी निचोड़ी जा रही है, इसके बदले में जनता को वापस कुछ देने का भी फ़र्ज़ बनता है! आम मेहनतकश लोग व्यवस्था का बोझ भी उठाएँ और कुछ माँग भी न करें! यह कहाँ का न्याय है? आज देश एक अभूतपूर्व दौर से गुज़र रहा है। शिक्षा-स्वास्थ्य-रोज़गार के हालात भयंकर बुरे हैं, किन्तु दूसरी और साम्प्रदायिक और जातीय दंगों को बढ़ावा दिया जा रहा

है। खुद सरकार में बैठे नेतागणों में से भी बहुत सारे दंगों की आँच में अपनी रोटियाँ सेंकते नज़र आ रहे हैं। हाल ही में हुए गुजरात चुनाव प्रचार में सबसे सामने आ गया है कि "विकास" व "गुजरात मॉडल" के नाम पर झूठ बोलकर लोगों को अब नहीं ठगा जा सकता, इसलिए वोट की राजनीति फिर से मन्दिर-मस्जिद पर केन्द्रित हो चुकी है। इसलिए अब यह समझना भी मुश्किल नहीं है कि 2019 में चुनावी प्रचार का ऊँट किस करवट बैठने वाला है। यानी इसकी काफ़ी सम्भावना है कि जाति-धर्म के दंगों में होने वाली खून की बारिश में ही मतदान की फ़सल लहलहायेगी!

देश में लम्बे समय से बेरोज़गारी का संकट बढ़ता ही चला जा रहा है। तमाम सरकारें आयीं और चली गयीं, किन्तु आबादी के अनुपात में रोज़गार बढ़ना तो दूर उल्टा घटते चले गये। सरकारी नौकरियाँ नाममात्र के लिए निकल रही हैं, सार्वजनिक क्षेत्रों की बर्बादी जारी है। केन्द्र और राज्यों के स्तर पर लाखों-लाख पद ख़ाली पड़े हैं। भर्तियों को लटकाकर रखा जाता है, सरकारें भर्तियों की परीक्षाएँ करने के बाद भी उत्तीर्ण उम्मीदवारों को नियुक्तियाँ नहीं देतीं! परीक्षाएँ और इण्टरव्यू देने में युवाओं के समय, स्वास्थ्य दोनों का नुक़सान होता है तथा आर्थिक रूप से परिवार की कमर ही टूट जाती है। नये रोज़गार सृजित करने का वायदा निभाने की बात तो दूर की है, सरकारें पहले से मौजूद लाखों पदों पर रिक्तियों को ही नहीं भर रही हैं। सरकारी ख़जाने से नेताओं, मन्त्रियों, नौकरशाहों की सुरक्षा और ऐयाशी पर खर्च होने वाले अरबों रुपये अप्रत्यक्ष करों के रूप में हमारी जेबों से ही वसूले जाते हैं, तो क्या बदले में हमें शिक्षा-रोज़गार की बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं मिलनी चाहिए? उल्टे आज महँगाई लोगों की कमर तोड़ रही है, व्यापक जनता के लिए रोज़गार 'आकाश कुसुम' हो गये हैं, कॉर्पोरेट घरानों के सामने सरकारें दण्डवत हैं तथा सत्ता के ताबेदारों ने बड़ी ही बेहयाई के साथ बेरोज़गारी के घाव को कुरेद-कुरेदकर नासूर बना दिया है।

बेरोज़गारी की भयंकरता की कहानी, कुछ आँकड़ों की जुबानी!

रोज़गारहीनता के मामले में आम जनता कम-से-कम स्वयं को तो कोसना बन्द ही कर दे! बहुत समय नहीं हुआ जब राज्यसभा में कैबिनेट राज्यमन्त्री जितेन्द्र प्रसाद ने माना था कि कुल 4,20,547 पद तो अकेले केन्द्र में ख़ाली पड़े हैं। देश-भर में प्राइमरी-अपर-प्राइमरी अध्यापकों के करीब 10 लाख पद, पुलिस विभाग में 5 लाख 49 हजार 25 पद, 47 केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में 6 हजार पद, 363 राज्य विश्वविद्यालयों में 63 हजार पद रिक्त हैं, विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों के अनुसार चलने पर तो देश भर में 5 लाख डॉक्टरों की तुरन्त ज़रूरत है, इन मानकों को पूरा करना तो दूर की कौड़ी है, यदि 36 हजार सरकारी

अस्पतालों के 2 लाख से ज़्यादा ख़ाली पड़े डॉक्टरों के पदों पर न्युक्तियाँ कर दी जायें तो गनीमत हो। यही नहीं 11,500 मनोचिकित्सकों के पद भी ख़ाली पड़े हैं। केन्द्र और राज्यों के स्तर पर करीब बीसियों लाख पद ख़ाली हैं। एक ओर पाखण्डी गोबर-गणेशों को भारत "विश्वगुरु" बनता दिख रहा है, दूसरी ओर यहाँ शिक्षण संस्थानों और अस्पतालों में आधे से अधिक पद तो ख़ाली ही पड़े हैं! भाजपा के दिग्गजों ने कभी एक करोड़ तो कभी दो करोड़ रोज़गार देने के चुनावी जुमले उछाले थे, किन्तु साढ़े तीन साल बीत जाने के बाद आधिकारिक श्रम ब्यूरो के आँकड़ों के मुताबिक़ सिर्फ़ 5 लाख नयी नौकरियों को जोड़ा गया है। वर्ष 2012 में भारत की बेरोज़गारी दर 3.8 प्रतिशत थी जो 2015-16 में 5 प्रतिशत पहुँच गयी। श्रम ब्यूरो सर्वेक्षण 2013-14 और 2015-16 के बीच 37.4 लाख नौकरियों की कमी दर्शाता है। ईपीडब्ल्यू के एक लेख के मुताबिक़ रोज़गार में कमी 53 लाख तक पहुँच गयी है। केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय के आँकड़ों के मुताबिक़ वर्ष 2015 और 2016 में क्रमशः 1.55 लाख और 2.31 लाख (पिछले आठ सालों में सबसे कम) नयी नौकरियाँ सृजित हुईं। 1991 में लागू की गयी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने रोज़गार पर ग्रहण लगाना शुरू कर दिया था, मनमोहन सिंह सरकार के कार्यकाल में वर्ष 2009 में 10 लाख नयी नौकरियाँ सृजित हुई थीं, जोकि 'ऊँट के मुँह में जीरा' थीं किन्तु इसके बाद तो हालत बद से बदतर होती चली गयी। सर्वे बताते हैं कि मोदी राज में संगठित-असंगठित क्षेत्र में 2 करोड़ रोज़गार छीने गये हैं। सांख्यिकी मन्त्रालय के आँकड़ों की मानें तो भारत में 15 से 29 बरस के बीच की आयु के 33,33,65,000 युवा हैं। 'ओईसीडी' की रिपोर्ट कहती है कि कुल युवाओं की उक्त संख्या में से 30 प्रतिशत न तो पढ़ाई करते हैं और न ही कोई नौकरी। साल 2013 के श्रम और रोज़गार मन्त्रालय के ही एक आँकड़े के अनुसार ग्रामीण और शहरी स्नातक (ग्रेजुएट) युवाओं में क्रमशः 36.4 प्रतिशत और 26.5 प्रतिशत बेरोज़गारी दर अनुमानित है। सरकारी आँकड़ों की सीमा को समझते हुए प्रच्छन्न और अर्ध-बेरोज़गारों को जोड़ दें तो बेरोज़गारों का असल आँकड़ा 25 करोड़ से भी ज़्यादा बैठेगा।

ज़रा एक नज़र उन भर्तियों पर डाल लें, जिन्हें अधर में लटकाकर रखा गया है या फिर पूरा तो कर दिया गया, किन्तु नियुक्ति का कहीं कुछ अता-पता नहीं है। 2016 में करीब 15 लाख अभ्यर्थियों ने एसएससी-सीजीएल की परीक्षा दी थी। 10,661 का नौकरी के लिए चुनाव हुआ, 5 अगस्त 2017 को नतीजा भी आ गया किन्तु अब तक नियुक्ति नहीं हो रही है। हरियाणा कर्मचारी चयन सेवा आयोग की 2015 में नौकरियाँ निकली थीं, परीक्षा होकर नतीजा आने में दो वर्ष लग गये पर नियुक्ति यहाँ भी नदारद है। हरियाणा में ही 2015 में पीजीटी स्कूल

अध्यापक की भर्ती निकली जिसकी परीक्षा तो किसी तरह से हो गयी किन्तु अभी तक साक्षात्कार नहीं हो सका है। इसी प्रकार 2015 में रेलवे में गैर-तकनीकी पदों हेतु 18 हजार की भर्ती का विज्ञापन आया था, परीक्षा प्रक्रिया के बीच में ही 4 हजार पदों को कम कर दिया गया। इस भर्ती को भी दो साल गुज़र गये किन्तु मेडिकल होना अभी बाक़ी ही है। आरआरबी मुम्बई भर्ती की अगस्त 2015 में परीक्षा हुई और 30 नवम्बर 2017 को परिणाम भी आ गया किन्तु नियुक्ति के लिए अभ्यर्थी अभी तक पलक-पाँवड़े बिछाये हुए हैं। एसएससी सीपीओ का जनवरी 2016 में विज्ञापन आया पर पेपर लीक होने के कारण परीक्षा टाल दी गयी, फिर दोबारा परीक्षा हुई तथा पूरी प्रक्रिया होने के बाद सितम्बर 2017 में परिणाम निकला किन्तु अभी तक नियुक्ति नहीं हुई है। इसी तरह से एसएससी सीएचएसएल की 2015 में प्री की परीक्षा हुई, मुख्य परीक्षा व टाइपिंग टेस्ट में 2 साल गुज़र गये और अन्तिम परिणाम अक्टूबर 2017 को आया, किन्तु नियुक्ति के नाम पर वही 'ढाक के तीन पात'। इसी प्रकार यूपी लोक सेवा आयोग ने 2013 में राज्य स्तर पर इंजीनियरिंग की परीक्षा के लिए फ़ॉर्म निकाले थे, जैसे-तैसे परीक्षा 2015 में हो गयी किन्तु सरकार बदल गयी पर परीक्षा परिणाम के इन्तज़ार में अभ्यर्थियों की उम्र पाँच बरस बढ़ चुकी है। उत्तराखण्ड में अप्रैल 2015 में सहायक अभियन्ता की परीक्षा हुई किन्तु परीक्षा परिणाम का यहाँ भी कुछ अता-पता नहीं है। दिल्ली सेलेक्शन बोर्ड की 2015 में फार्मास्यूटिकल की भर्ती निकली, जिसकी 2015 में परीक्षा हुई जिसका परिणाम तो आ गया किन्तु नियुक्ति के मामले में परिणाम शून्य। इसी तरह बिहार में बीपीएससी 56-59 का 17 महीने से परीक्षा परिणाम नहीं आया है किन्तु अगली भर्ती यानी बीपीएससी 60-62 की परीक्षा की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है तथा बीपीएससी 63 के फ़ॉर्म भरे जा चुके हैं। झारखण्ड लोकसेवा आयोग के ढंग तो और भी निराले हैं। यहाँ 17 साल में कुल पाँच बार परीक्षा हुई है जिसमें से भी दो बार की परीक्षा रद्द हो गयी! छठी परीक्षा का फ़ॉर्म 2015 में निकला जिसकी तारीख़ तीन बार बढ़ायी गयी; मर-पड़ कर 18 दिसम्बर 2016 को प्री की परीक्षा हुई फिर मंस की परीक्षा की तारीख़ भी दो बार बढ़ायी गयी किन्तु फिर भी परीक्षा अभी तक नहीं हुई है! 2015 की भर्ती 2018 तक भी पूरी हो जाये तो गनीमत हो। दोस्तो! अटकी पड़ी भर्तियों के ये तो कुछ प्रातिनिधिक उदाहरण ही सामने हैं!

दिल्ली में 2013 में 9.13 लाख बेरोज़गार थे जोकि 2014 में बढ़कर 10.97 लाख हो गये। यही नहीं 2015 में इनकी संख्या 12.22 लाख हो गयी। नोटबन्दी और जीएसटी के बाद के हालात तो सामने ही हैं, जब दिल्ली में ही लाखों लोगों के मुँह से निवाला छीन लिया गया। आम आदमी पार्टी

ने 55,000 ख़ाली पदों को तुरन्त भरने और ठेका प्रथा ख़त्म करने की बात की थी, किन्तु रोज़गार से जुड़े तमाम मामलों में यहाँ भी वही 'ढाक के तीन पात' हैं। हरियाणा में रोज़गार के हालात की बात करें तो 1966 में यहाँ रोज़गार दफ़्तर में कुल 36,522 लोगों के नाम दर्ज थे जोकि 2009 में बढ़कर 9,60,145 हो गये। यह तो 2017 की ही बात है जब मदवि, रोहतक में चपरासी के मात्र 92 पदों के लिए 22 हजार अभ्यर्थियों ने आवेदन किया था। एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार स्कूल अध्यापकों के कुल 1 लाख 28 हजार 791 पदों में से 52 हजार 675 पद रिक्त पड़े हैं। लाखों युवा डिग्रियों का गड्ड लीकर घूम रहे हैं पर हरियाणा के मुख्यमन्त्री खट्टर के कानों पर जूँ तक नहीं रेंग रही। हरियाणा में लाखों युवाओं को रोज़गार के अवसर मुहैया कराने का वायदा करने वाली भाजपा सरकार अब कभी तो जातिवाद और आरक्षण का धुआँ उड़ा देती है; कभी गाय की पूँछ पकड़ लेती है; कभी शतुरमुर्ग की तरह "सरस्वती नदी" में अपनी गर्दन घुसा लेती है तो कभी गीता के नाम पर पाखण्ड रचने लगती है!

देश की जनता के साथ भारतीय राज्य का छल

भारतीय राज्य और सरकारें देश के संविधान को लेकर खूब लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं। संविधान का अनुच्छेद 14 कहता है कि 'सभी को समान नागरिक अधिकार' मिलने चाहिए और अनुच्छेद 21 के अनुसार 'मानवीय गरिमा के साथ जीने का अधिकार' सभी को है। किन्तु ये अधिकार देश की बहुत बड़ी आबादी के असल जीवन से कोसों दूर हैं। क्योंकि न तो देश स्तर पर एक समान शिक्षा-व्यवस्था लागू है तथा न ही देश में करोड़ों लोगों के लिए पक्के रोज़गार की कोई गारण्टी है। हर काम करने योग्य स्त्री-पुरुष को रोज़गार का अधिकार मिलना ही सही मायने में उसका 'जीने का अधिकार' है। मनरेगा में सरकार ने पहली बार माना था कि रोज़गार की गारण्टी देना उसकी जिम्मेदारी है किन्तु यह योजना भी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गयी। न केवल ग्रामीण और न केवल 100 दिन बल्कि हरेक के लिए उचित जीवनयापन योग्य पक्के रोज़गार के प्रबन्ध की जिम्मेदारी सरकारों की बनती है, यह हमारा जायज़ हक़ है। जिसका सीधा सा कारण यह है कि सरकारी ख़जाने का बहुत बड़ा हिस्सा जनता से आने वाले अप्रत्यक्ष करों से भरता है। यदि सरकारें जनता को शिक्षा-रोज़गार-चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाएँ तक नहीं दे पाती तो फिर ये हैं ही किसलिए? पूँजीपतियों को तो करोड़ों-अरबों रुपये और सुविधाएँ ख़ैरात में मिल जाते हैं, बैंकों का अरबों-खरबों रुपये धन्नासेटों के द्वारा बिना डकार तक लिये निगल लिया जाता है। दूसरी तरफ़ आम ग़रीब लोगों को व्यवस्था का शिकार बनाकर तबाही-बर्बादी में धकेल दिया जाता है!

(पेज 13 पर जारी)